# उपनिषदों की कहानियाँ

लेखक

रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री

# उपनिषदों की कहानियाँ

[उपनिषदो की ग्यारह पुनीत कथाएँ]

## पहला भाग

लेखक
रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री

२००३

प्रकाशक
साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग

स्मृतिशेष स्वर्गीया माँ के पूज्य चरणो मे

"प्रथिता प्रणयकथा सनातनी"

## दो शब्द

उपनिषदो मे ज्ञान का भंडार है। सूक्ष्म विषयों की जहाँ विवेचना की गई है वही उदाहरण रूप में कुछ कथायें भी कही गई है जिनसे शिक्षा हृदयङ्गम हो। इन कथाओ की संख्या कम नहीं है। परन्तु इनका अधिक प्रचार नहीं हुआ। पुराणो से तो हम परिचित रहते है, रामायण और महाभारत भी हम पढ लेते है, परन्तु इस विचार से कि उपनिषद् मे धर्म्म और दर्शन के ही गूढ तत्त्व होगे, इनको पढने का साहस नहीं होता है और इनमें बच्चो और नवयुवको के उपयुक्त कोई सामग्री होगी इसका कभी ध्यान ही नही रहता है। श्री रामप्रताप जी त्रिपाठी ने इस पुस्तक को लिखकर हिन्दी साहित्य का उपकार किया है। इससे विद्यार्थी बहुत लाभ उठा सकते हैं और अपने चरित्र को, अपने जीवन के आदर्शों को, अपने विचारों को संस्कृत कर सकते है। लेखक की शैली सरल और आकर्षक है।

*अमरनाथ झा*

२-३-'४७

पूर्व वाइस चैंसलर प्रयाग विश्वविद्यालय तथा
सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

# निवेदन

विश्व के विस्तृत वाङ्मय मे उपनिषदों की महत्ता बे जोड है। वे न केवल अपनी परम प्राचीनता के कारण ही आदरणीय हैं प्रत्युत उनकी सहज सुख शान्तिदायिनी सूक्तियाँ सचमुच अमरत्व का सन्देश देनेवाली हैं। भारतीय आर्य-संस्कृति का समुन्नत रूप सदा से इन्हीं अमृत दीर्घिकाओं' मे निमज्जित होकर निखरा है। वे किसी सम्प्रदाय विशेष की वस्तु नहीं हैं, उनकी सामान्य दृष्टि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के महान् एव पुनीत लक्ष्य पर स्थिर है। यही कारण है कि देश-विदेश सर्वत्र उनका समान आदर है। पर यह सब होते हुए भी उपनिषदें सर्वसाधारण के लाभ मे नही आतीं। उनकी गहन गम्भीरता की दुहाई देकर जब हमारे कितने संस्कृतज्ञ पण्डित जन भी उनके अमर सन्देश से आजीवन वचित रह जाते है तब केवल हिन्दी जाननेवालों का क्या दोष ? आज तक अनेक उपनिषदों के हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं, पर विषयों की दुरूहता एव आध्यात्मिकता के कारण उनमें भी हिन्दी जानने वालों को प्रवृत्ति कम हुई है।

यह कहानियों का युग है। भूतों-प्रेतों और कुत्तों-सियारों की कहानियों से लेकर आर्थिक एव वैज्ञानिक कहानियों तक का प्रकाशन धड़ल्ले से हो रहा है। कितनी अश्लील, भ्रष्ट और कुरुचि उत्पन्न करने वाली समाज विघातक कहानियों की पत्रिकाएँ भी प्रतिमास हजारों की संख्या मे प्रकाशित हो कर आर्य सभ्यता का गला घोंटने के लिए चारों

ओर फैली हुई हैं। निश्चय ही उन विषैली कहानियों से हमारी सांस्कृतिक चेतना का दम घुट रहा है। ऐसी विषम परिस्थिति में इन उपनिषदों की पुनीत कहानियों का ग्रन्थन केवल इसी विचार से किया गया है कि कहानियों की प्रेमी हिन्दी-जनता में उपनिषदों के अमर पात्रों के साथ-साथ उनके परम शान्तिदायक अमर सन्देशों की गूंज भी थोडी बहुत पहुँच सके और इसी बहाने से उपनिषदों में क्या गूढ़ तत्त्व भरा हुआ है इसे वे भी जान सकें। बस, इससे अधिक इनकी उपयोगिता के बारे में मुझे कुछ कहना नहीं है।.

इन कहानियों के पात्र प्रायः सभी उपनिषदों के हैं। घटनाएँ और सम्वाद भी अधिक उन्हीं के हैं। केवल रोचकता और प्रवाह लाने के लिए सब में कुछ न कुछ कल्पना का आश्रय लिया गया है। समय की गति पहचान कर ही मैंने ऐसी धृष्टता की है। आशा है, हमारे गुरुजन इसे क्षमा करेंगे और हमारे केवल कहानी-प्रेमी पाठक भी इसे पसन्द करेंगे। क्योंकि ये कहानियाँ अनुवाद नहीं है, इनमें उपनिषदों के पात्रों, घटनाओं और संवादों के उपयोगी अंशों को नवीन कहानी शैली के ढाँचे में ढाला गया है। मैं मानता हूँ कि नितान्त मनोवैज्ञानिक एवं घोर प्रगतिशील कहानियों के इस युग में इन कहानियों के पाठक कम निकलेंगे पर अभी हमारी संस्कृति एवं सभ्यता पर स्नेह और आदर रखने वालों की इतनी कमी नहीं हुई है। और उन्हीं के योग्य हाथों में सौंपने के लिए ही मेरी यह तुच्छ भेंट है। पश्चिम की होड में पूर्व का सब कुछ हेय नहीं है। उपनिषदें हमारी गौरवशालिनी संस्कृति एवं अतीत सभ्यता की उज्वल प्रतीक हैं। उनमें हमारे जीवन का ऐसा सर्वोत्तम पहलू छिपा हुआ है, जिसकी खोज में सारा संसार अब भी दौड़ रहा है।

इस पहले भाग में कुल ग्यारह कहानियाँ संगृहीत हैं। इनकी भाषा में कुछ मित्रों के आग्रह से सरलता लाने की मैंने 'चेष्टा' की है, पर मैं स्वयं नहीं जानता कि मुझे इस 'चेष्टा' में कितनी सफलता मिली है।

पर ज्यों-ज्यों कहानियाँ आगे बढ़ती हैं, विषय के साथ-साथ उनकी भाषा भी कुछ पुष्ट होती जाती है। दूसरे भाग की कहानियों मे भाषा का स्वरूप कुछ और निखरा हुआ है, क्योंकि वे कहानियाँ केवल कहानियाँ ही नहीं हैं वरन् उन उपनिषदों के प्रतिपाद्य तत्वों की वाहिनी भी हैं। पर इन ग्यारह कहानियों में इनकी अपेक्षा कहनापे का ध्यान अधिक रखा गया है।

चैत्र कृष्ण ११, २००३
हिन्दी विद्यापीठ, प्रयाग

रामप्रताप त्रिपाठी

# कहानियों का क्रम

नचिकेता का साहस

# देवताओं की शक्ति-परीक्षा

[ १ ]

देवताओं और असुरों मे अक्सर पटती नहीं थी। आये दिन थोडी-थोडी बातो मे उनके बीच झगडा-फसाद हुआ करता था। एक बार यह रंजिश बहुत बढ गई और दोनो ओर से जमकर लडाई की तैयारी हुई। देवताओं के राजा इन्द्र ने अग्नि, वायु आदि बलवान देवताओं की सहायता से डटकर असुरों का सामना किया। सयोग की बात। असुर सब के सब मारे गए। जो थोडे-बहुत बचे भी वह देश छोडकर भाग गये। इस लडाई से देवताओं की धाक जम गई, चारों ओर उनकी वीरता की प्रशसा होने लगी। यों तो सभी देवताओं ने प्राण होम कर इस लडाई मे वीरता दिखाई थी, पर अग्नि और वायु का तो इसमे बहुत बडा हाथ था। जो काम करता है, वह नाम भी चाहता है। नाम का ही ऐसा लोभ होता है कि लोग जान की परवा न करके बडे से बडा काम कर डालते हैं। देवताओं को भी नाम खूब मिला। सारी दुनिया मे उनकी बडी तारीफ होने लगी। ईश्वर को छोडकर सब लोग देवताओं की ही पूजा करने लगे। इस मान-प्रतिष्ठा को पाकर देवताओं को बडा घमण्ड हो आया। वह सोचने

लगे कि अब दुनिया मे हम लोगों से बढकर दूसरा कोई नहीं है। ईश्वर की पूजा मे पहले वह बहुत मन लगाते थे पर जब यह देखा कि सारी दुनिया हमारी पूजा करती है तो हमे किसी की पूजा करने से क्या लाभ है ? इस विजय गर्व मे उन्मत्त होकर वह इतने गुमराह हो गए कि खुद अपने ही मुँह से अपनी-अपनी तारीफ करने लगे। पहले जहाँ वह सृष्टि के कण-कण मे परमात्मा का दर्शन पाते थे वहाँ अभिमान के कारण दिखाऊ पूजा-पाठ करने पर भी उन्हे हृदय मे परम ज्योति का दर्शन दुर्लभ बन गया। ईश्वर की सर्वशक्तिमान सत्ता का विश्वास उनके दिल मे एकदम टूट गया। वह स्वय एकदम से असुर बन बैठे।

+ + +

भगवान को अपने भक्तों की सदा सुध बनी रहती है। जैसे पिता अपने प्यारे पुत्र का अनभल कभी नहीं देख सकता उसी तरह भगवान के मन म भी देवताओं की इस गर्व-भावना से बडी चिन्ता हुई। उन्होने सोचा कि 'यह सचमुच बेहोश हो गए हैं। अभिमान के नशे मे यह कुछ भी नहीं बूझ रहे हैं कि वास्तव मे हमारा क्या हो रहा है ? अगर इन्हें समय रहते ही सचेत नही किया जाता तो इतने दिनो तक हमारी सेवा करने का इन्हे क्या फल मिलेगा ? अगर मै इस समय इनकी इस करतूत को सह लेता हूँ तो इसका नतीजा यही होगा कि यह सब भी असुरों की तरह नष्ट हो जायँगे। और इनके कारण सारी दुनियाँ फिर नरक बन जायगी। विजय प्राप्त कर के इतना घमण्ड इनमे जो आ गया है सो निश्चय ही सब का विनाश कर के छोड़ेगा। जो बड़े होते हैं वे इस तरह विजय पाकर पागल नहीं बन जाते, बल्कि उनमे और भी नम्रता आ जाती है। फल लगने पर पेड की डाले और भी नीचे की ओर झुक जाती हैं।' इस तरह का विचार करके भगवान ने देवताओं का घमण्ड दूर करने का एक अच्छा उपाय निकाला। सवेरे का सुहावना समय था। अमरावती पुरी के नन्दन वन मे इन्द्र का दरबार लगा था। सब देवता मारे घमण्ड के अपनी अपनी डींगे हाँकते हुए एक दूसरे से झगड रहे

थे कि बीच आसमान से एक परम तेजस्वी यक्ष पुरुष नीचे जमीन की ओर उतरता हुआ दिखाई पडा। उस समय दसों दिशाओं मे चकाचौंध मच गई। देवताओं की चमकदार आँखें मुँदने-सी लगीं। यहाँ तक कि अग्नि भी, जो अपने तेज को बहुत सजा बजा कर बैठे हुए थे, उस तेज से मलीन बन गये। देवताओं की हँसी एकाएक बन्द हो गई। सबकी अधखुली आखे सामने दिखाई पडनेवाले उस परम तेजस्वी यक्ष पुरुष की ओर लग गई। उसके परम तेज मे सब का चेहरा फीका पडने लगा। थोडी देर तक सभी चुप बने रहे और इस तरह देखते ही देखते देवराज इन्द्र की सारी सभा म एक दम सन्नाटा छा गया।

आखिरकार सब देवताओं ने उस परम तेजस्वी यक्ष पुरुष के भेद को जानने के लिए अग्नि से बडी विनती की, क्योंकि वही सबसे अधिक तेजस्वी थे भी। पिछले महायुद्ध मे उनकी वीरता की धाक सब देवताओं पर जम चुकी थी। थोडी देर तक अग्नि इधर-उधर की टाल मटूल करते रहे, लेकिन जब देवराज इन्द्र ने उन्हें बडी खरी बाते सुनाईं तो मजबूर होकर उन्हें वहाँ से पता लगाने के लिए उठना ही पडा। बेचारे अग्नि मारे शर्म के उस तेजस्वी यक्ष पुरुष की ओर धीरे-धीरे कदम बढाने लगे। किन्तु थोडी दूर तक भी नहीं पहुँच सके थे कि उनका बुरा हाल होने लगा। आखे एक दम बन्द सी हो गईं। सिवा प्रकाश की धुन्धाइयो के उनकी आखों से वह यक्ष पुरुष की आकृति भी धीरे-धीरे गुम होने लगी। तेज की भयानक गरमी से उनका शरीर जलने लगा। पर क्या करते, मजबूर होकर समीप तक तो जाना ही था। किसी तरह अग्नि उस यक्ष पुरुष से थोडी दूर पर पहुँच तो गए, पर वहा जाकर भी उनकी बोलने की हिम्मत नहीं हुई। थोडी देर तक आखे बन्द कर वह असह्य ताप सहन करते हुए किसी तरह खड़े रहे।

भगवान् को दया आई। अपनी मन्द मुसकराहट से आकाश और दिशाओं को उद्भासित करते हुए वह बोले—'भाई! तुम कौन हो? इस तरह यहाँ खडा होने का तुम्हारा मतलब क्या है?' अग्नि का तेज

कभी इतना गला तो था नहीं। स्वर को बनावटी ढंग से गम्भीर बनाते हुए उन्होंने कहा—'मेरा नाम अग्नि है। कोई-कोई मुझे जातवेदा भी कहते हैं। मैं जानना चाहता हूँ कि आप कौन हैं?' भगवान् ने जान लिया कि अग्नि का स्वर कितना बनावटी है। और इसमें घमण्ड की बू तनिक भी कम नहीं हुई है। दिल की बातें सामने लाने के लिए उन्होंने पूछा—'भाई अग्नि! क्या मुझे यह बतला सकते हो कि तुम्हारा काम क्या है?' अग्नि को उस तेजस्वी पुरुष की इन विनयपूर्ण बातों से और भी बढ़ावा मिला। आँखों को खोलने की चेष्टा करते हुए उन्होंने कहा—'सौम्य! क्या आप को अग्नि का पराक्रम मालूम नहीं है। मैं सारे संसार को पल भर में जला देने की शक्ति रखता हूँ। जमीन की तो बात ही क्या आसमान में जितने तारे हैं वह भी हमारे तेज से पल भर भी नहीं ठहर सकते।'

भगवान ने देखा कि अग्नि का दिमाग अभी ठीक नहीं हुआ है। जमीन से एक तिनका उठाकर उन्होंने अग्नि की ओर फेंकते हुए कहा—'अग्नि देव! मैं सचमुच नहीं जानता कि तुम किस तरह किसी वस्तु को जला सकते हो। इसलिए तुम इस तिनके को जला कर मुझे तनिक अपना पराक्रम तो दिखलाओ।' अग्नि से इतनी बातें कह भगवान् ने अग्नि के शरीर से अपना तेजस्वी रूप भीतर ही भीतर अपने में खींच लिया, जिससे देखते ही देखते अग्नि का तेजस्वी शरीर निस्तेज हो गया। अपने पूरे पराक्रम को याद करके वह उस तिनके को जलाने के लिए तैयार तो हो गए किन्तु भीतर से उनकी हिम्मत टूट चुकी थी। वह तिनका, जो अग्नि की एक गरम उसास से राख बन सकता था, अभी उसी तरह अग्नि के सामने मानो उनका मजाक-सा करता हुआ पड़ा था। अग्नि की सारी मानसिक चेष्टा निष्फल हो गई पर तिनके का सिरा भी नहीं सुरसुराया। देर होती गई, पर तिनका ज्यों का त्यों बना ही रह गया। उधर उस तेजस्वी यक्ष पुरुष का तेज अधिक भयानक हो गया, और निस्तत्त्व अग्नि का शरीर झुलसने लगा। फिर तो वह

चुपचाप पीछे खिसककर देवताओं के समीप वापस आ गये। उनकी आखे नीचे की ओर धँस गई थी और चेहरे का पहले वाला तेज जाने कहाँ गायब हो चुका था।

इन्द्र समेत देवताओं ने देखा अग्नि एकदम मृतक के समान निर्जीव होकर उनके बीच मे खडे हैं। न बुलाने पर बोलते हैं और न कुछ खुद ही कहना चाहते हैं। उनकी सारी तेजस्विता नष्ट हो चुकी है, आँखे नीचे धँस गई हैं और तेजस्वी मुखमण्डल पोपला और पीला पड गया है। देवराज ने अग्नि को अधिक परेशान करना ठीक नही समझा। सान्त्वना भरी वाणी मे स्नेह प्रकट करते हुए कहा—'भाई अग्नि! कुछ बताओ तो सही, इसमे शर्म का क्या बात है?' थोडी देर बाद बहुत सकुचाते हुए अग्नि का शिर नीचा करके बोलना ही पडा—'देवराज! बहुत कोशिश करके भी मै उस तेजस्वी यक्ष पुरुष का कुछ पता लगा नहीं सका। वह असुरो से भी भयानक है। मेरी सामर्थ्य नहीं है कि उसका पता लगा सकूँ।' देवसभा मे अग्नि की इन निराशा भरी बातो से गहरा आतक छा गया। सब चुप हो गये।

थोडी देर तक चुप रहने के बाद इन्द्र ने वायु की ओर ताका। उस समय उनका भी बुरा हाल हो रहा था, क्योंकि अग्नि के बाद अपनी वीरता की लबी डीगे हाँकने मे वह भी सब से आगे थे। इन्द्र की आँखों को अपनी ओर लगी देखकर वह दूसरी ओर ताकने लगे। पर राजा को इससे क्या? उसे तो काम लेना आता ही है। सभा की चुप्पी तोडते हुए देवराज ने पुकारा—'वायु! मै समझता हूँ कि तुम्हे उस तेजस्वी यक्ष पुरुष का पता लगाने मे कोई कठिनाई नहीं होगी। तुम इस चराचर ससार के सभी जीवों मे सब से बढकर बलवान् हो। तुम्हारे बिना कोई एक पल भी नहीं जी सकता। जाओ, देखो तो वह कौन है?' देवराज अपने साथियों की इतनी तारीफ कभी करते नहीं थे। वायु का गिरा मन हरा हो उठा। वह जाने को तैयार होकर आगे बढ़े। पर थोडी ही दूर जाने के बाद उस तेजस्वी पुरुष के तेजः

पुञ्ज की ओर ताकना भी वायु के लिए बडा कठिन हो गया। किसी तरह कुछ दूर समीप चलकर वह भी खडे हो गये पर पूछने की हिम्मत बाकी नही रह गई।

दीन दशा मे वायु को थोडी देर तक खडा रहने के बाद भगवान् ने पूछा—'भाई ! तुम कौन हो ? यहाँ आने का तुम्हारा मतलब क्या है ?' वायु को कुछ ढारस हुआ। शरीर को कुछ सजीव बनाने की चेष्टा करते हुए उन्होने कहा—'सौम्य ? मेरा नाम वायु है। सारे संसार की जिन्दगी मेरे हाथ मे रहती है। क्या तुम मुझे जानते नहीं ? सारी पृथ्वी की सुगध मै अपने मे समेट कर बहता हूँ, इसी से कोई-कोई मुझे गन्धवाह कहते हैं। ससार की कोई भी वस्तु आसमान मे नहीं चल सकना पर मै वहाँ भी बे-रोक्टोक चलता हूँ, इसी से मातरिश्वा नाम भी मेरा सब जानते हैं। इसी तरह मेरे अनेक नाम हैं। क्या आज तक तुम ने मेरा एक नाम भी नहीं सुना है ?'

मुसकराते हुए भगवान् ने वायु के बनावटी चेहरे पर एक नजर डाली। उनका रहा-सहा धीरज भी जाता रहा। आँखे एक दम मुँद गई। नसो मे सनसनाहट पैदा हो गई। भगवान् ने कहा—'भाई ! नाम तो मैने तुम्हारा अवश्य कही सुना है, पर काम देखना चाहता हूँ। क्या तुम अपने काम के बारे मे कुछ हमे बतला सकते हो।' वायु को विश्वास हो गया कि जो मेरा नाम जानता है वह मेरी इज्जत भी करेगा। उसके सामने अपने कामों को दिखा देना ठीक ही है। स्वर को कुछ गम्भीर बनाते हुए उन्होने कहा—'मै इस सारे ब्राह्मण्ड को हिला सकता हूँ। आसमान के तारो और ग्रहो को गिरा सकता हूँ। इन पहाडों अथवा पेडो की क्या बिसात है जो मेरे सामने थोडा देर भी टिक सके।'

यह सुन कर भगवान् ने घमण्डी वायु के शरीर को निस्तेज करते हुए अपना सारा तेज पल भर मे खीच लिया, जिससे वह गिरते-गिरते बचे। मगर एक बार डीग हाँक कर भागना भी सरल नही था। वह

तिनका अभी उसी जगह पडा था। भगवान् ने कहा—'भाई! यह जो तिनका तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है, उसे उड़ाकर दूर तो कर दो, क्योंकि तभी मुझे तुम्हारी शक्ति पर कुछ विश्वास होगा।'

वायु ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। पर तिनका ज्यों का त्यों पडा रहा। उस समय वह हिमालय से बढकर भारी बन गया। उडना तो दूर उस मे कम्पन भी नहीं हुआ। निश्चेष्ट वायु बडी देर तक बल आजमाते रहे पर सब बेकार रहा। आखिरकार शिर नीचे कर चुपके से वह भी पीछे चले आये। और चुपचाप आकर देवसभा के एक कोने में छिप-से गए।

देवराज इन्द्र ने वायु का उदास चेहरा देखकर सब ताड लिया। सारी देवसभा मूर्तियों की तरह निश्चेष्ट होकर बैठी रही। थोडी देर तक चुप रहने के बाद देवराज ने पूछा—'भाई वायु! वहाँ का कुछ हाल तो बताओ। इस तरह शरमाने की जरूरत नही है। मै जानता हूँ कि अपनी शक्ति भर तुमने प्रयत्न किया होगा।'

वायु ने विनत स्वर मे कहा—'देवराज! वह अद्‌भुत तेजस्वी यक्ष पुरुष पता नहीं कौन है? मै उसका कुछ भी भेद नहीं जान सका।' वायु की निराश बातें सुन देवताओं के होश गुम हो गए। चीरो तो खून नहीं। जिस वायु और अग्नि के बल का उन्हे घमण्ड था, जब उनका यह हाल हुआ तो पता नहीं अब कौन-सी नई विपदा आनेवाली है। सभी बडे सोच मे पड गए।

देवताओं के गुरु बृहस्पति बडे बुद्धिमान् और दूरन्देशी थे। अग्नि और वायु की घमण्ड भरी बाते उन्हे जरा भी नहीं सुहाती थीं। इसलिए उन लोगों की इस अप्रतिष्ठा से उन्हे जरा भी अफसोस नही हुआ। अपने ऊचे आसन मे उन्होंने एक बार सब की ओर नजर डालते हुए इन्द्र से कहा—'देवराज! उस तेजस्वी पुरुष का पता आप को छोडकर किसी दूसरे से नही लगेगा। कृपाकर आप ही जाकर उसका पता लगाइये और सब को निश्चिन्त कीजिए, इन्द्र विवश थे। लाचार

होकर उन्हे खुद जाना पड़ा। देवता लोग मन ही मन बहुत दिनो बाद आज इस विपदा मे पडकर भगवान् का ध्यान करने लगे।

+ + +

किसी तरह उस तेजस्वी यक्ष पुरुष के पास जब देवराज इन्द्र पहुँच भी गए तो देखते क्या हैं कि वह तेज सारे आसमान और पृथ्वी को एक बारगी चकाचौंध करते हुए पता नहीं कहाँ गायब हो गया। पर उनकी आखो मे अब भी लाल, पीला, नीला, हरा प्रतिबिम्ब दिखाई पड रहा था। थोडी देर तक खड़े रहने के बाद जब उनकी आँखे कुछ ठीक हुई तो देखने पर वहाँ ऐसी कोई चीज थी ही नहीं। बेचारे देवराज बडे विस्मय मे पड गए।

कुछ भी हो। जिन्होने देवताओ पर इतने दिनो तक शासन किया, परम बुद्धिमान तथा शक्तिशाली असुरों को हराया, वह इतनी जल्दी हिम्मत कैसे हारते। उन्होने समझ लिया कि सिवा भगवान् के और किसी दूसरे की करतूत यह नही है। वही समाधि मे बैठकर ध्यान करने लगे। बडी देर तक ध्यान करते रहने के बाद उन्हे आसमान से फिर उसी तरह का तेज पुञ्ज नीचे उतरता हुआ दिखाई पडा; पर इस बार वह तेजःपुञ्ज पुरुष रूप मे नही था। अपनी एक सहस्र आखों से ध्यान पूर्वक देखने पर इन्द्र को पता लगा कि उसके सारे शरीर पर सोने के आभूषणों की शोभा विराजमान है। शरीर की कान्ति भी एक दम सोने की तरह दमक रही है। उन्हें हैमवतार हिमवान् पुत्री, पार्वती का ध्यान आया; सचमुच वह वही थीं। समीप आकर वह गम्भीर मुद्रा में इन्द्र की ओर देखते हुए खड़ी हो गई। देवराज इन्द्र भी सहम कर समाधि से उठ खड़े हुए और सादर झुककर प्रणाम भी किया।

थोड़ी देर तक खडे रहने के बाद इन्द्र ने विनय भर स्वर मे पूछा —'आप सारे ससार की जननी हैं। भगवान् शकर की आधार स्वरूप हैं। आप से इस चराचर ससार मे कोई भी वस्तु अज्ञात नही है। अभी थोड़ी ही देर हुई, यहीं पर एक परम तेजस्वी यक्ष पुरुष दिखाई पडा

था। मैने अग्नि और वायु को उसका भेद जानने के लिए भेजा पर वह निराश लौट गए। कुछ भी नहीं जान सके। अत मे निरुपाय होकर मुझे स्वय आना पडा। मगर समीप आते-आते वह जाने कहाँ विलीन हो गया। आप उसे अवश्य जानती होंगी। कृपया उसका भेद बतलाकर मेरे मन का विस्मय दूर कीजिए।'

जगदम्बा को अपने पुत्र पर दया क्यों न आती ? अपने मुखचन्द्र के हास्य रूप अमृत मे इन्द्र के मुरझाए हुए चेहरे को सींचती हुई वह बोली—'वत्स ! वह यक्ष पुरुष कोई साधारण पुरुष नहीं था, वह साक्षात् ब्रह्म था। जिसका भेद अग्नि और वायु क्या बता सकेंगे ? सारे ससार मे ऐसा कोई नहीं है, जो उसका भेद जान सके। वही सब का उपकार करता है और सब का विनाश भी करता है। अच्छे काम करने वालो का वही साथी है और बुरे काम करनेवालों का वही दुश्मन है। उसी ने तुम्हारी ओर से असुरो का विनाश किया है। तुम सब तो एक दिखावटी बहाने थे। उसकी इच्छा के बिना कोई चींटी की टाग भी नहीं टेढी कर सकता। अग्नि और वायु ने बहुत चाहा कि उस तिनके का कुछ बिगाड दे मगर उसकी जब इच्छा नहीं थी तो वह क्या कर सकते थे। उसी ब्रह्म की महिमा से ही तुम्हारे शत्रु असुरों का विनाश हुआ। क्योंकि वे हमेशा बुरे कामों मे लगे रहते थे। मगर तुम लोगों ने यह समझ लिया कि असुरो का विनाश हम सबा ने किया है। और यही समझ कर तुम सब मे घोर अभिमान भी हो आया है। उस अभिमान को छोड दो, वही सब पापों की जड है। भगवान् पाप से बडी घृणा करता है। वह किसी पाप करने वाले से घृणा नहीं करता बल्कि उसके अवगुणों से करता है। अवगुणो को छोड देने पर पापी से पापी भी उसका भक्त बन जाता है। थोडे मे यही समझ लो कि इस ससार मे वही सब से बडा दयालु और सब से बडा शक्तिशाली है। अपने अभिमान को छोड देने पर तुम सब पहले की तरह फिर उसके प्रिय बन जाओगे।'

भगवती पार्वती की इन सीधी सादी बातों ने देवराज इन्द्र पर अपना जादू फेर दिया। उनकी अभिमान से काली आत्मा इस उपदेश रूपी अमृत से धुलकर चमक उठीं। आखों से कृतज्ञता के आसू निकल पड़े और उसी से दिल की सारी जलन भी बाहर हो गई। माता के चरणों पर गिर कर उन्होंने उसके वरदायी हाथों का कोमल और सुखदायी स्पर्श अनुभव किया। आखिरकार चिर काल तक सुखी होने का पवित्र आशीर्वाद पाकर देवराज इन्द्र अपनी सभा की ओर वापस लौटे। जगदम्बा पार्वती भी आशीर्वाद देकर वहीं अन्तर्धान हो गई।

देवसभा उत्सुक आखो से कब से इन्द्र की राह देख रही थी। इन्द्र के पहुँचते ही सब देवता उठकर खड़े हो गए। उस समय प्रसन्नता और शान्ति से इन्द्र का तेज कई गुना अधिक हो गया था। ब्रह्म के निर्मल प्रकाश मे उन्हे संसार के सब तत्त्व स्पष्ट हो रहे थे। कोई गाठ उनके दिल मे नहीं रह गई थी और न कोई आशका की सिहरन ही थी। इशारे से सब को अपने-अपने आसनों पर बैठने का आदेश देकर वह अपने रत्नजटित सिहासन पर शोभायमान हो गए। और सब देवताओं के बीच मे सर्वप्रथम ब्रह्म का उपदेश किया। इन्द्र के उपदेश रूपी अमृत मे अग्नि और वायु की कलुषित और मुमुर्षु आत्मा भी हरी भरी हो गई और ब्रह्म रस के अद्भुत सचार से उनकी पूर्व शक्ति फिर वापस आ गई। सारे देवताओ की दूषित भावनाएँ सदा के लिए दब गईं। सब लोग नए सिरे से जन्म पाने के समान सुखदायी जीवन का अनुभव करने लगे।

अब वह सचमुच विजयी देवता बन गये थे, क्योंकि उनके भीतरी शत्रु घमण्ड रूपी असुर की सदा के लिए मृत्यु हो गई थी।[1]

---

[1] केन उपनिषद् के आधार पर।

# नचिकेता का साहस

[ २ ]

बात बहुत पुरानी है। उस समय हमारे देश मे यज्ञों का बहुत प्रचार था। हर एक गाव मे महीने भर मे दो चार यज्ञ हुआ करते थे। यज्ञ के सुगधित धुएँ से आकाशमण्डल धूमिल बना रहता था। पवित्र शान्त सुगन्धित पवन के मन्द मन्द झोको से चारों तरफ का वातावरण बहुत स्वास्थ्यप्रद और रमणीक बना रहता था। वेदों के पवित्र मत्रों के उच्चारण मे दिशाएँ गूँजती रहती थीं। लोगों के दिन आनन्द और मस्ती में क्षण के समान बीतते थे। न किसी को खाने पीने की कमी रहती थी और न दुश्मनो का भय। सभी लोग सत्य बोलते थे, जीव मात्र के लिए मन मे उपकार की भावना रखते थे और किसी छल-छिद्र का उन्हें कोई पता नहीं रहता था। ऐसे पवित्र सत्य युग मे महर्षि गौतम के वश मे वाजश्रवा के पुत्र उद्दालक नाम के एक महात्मा ऋषि रहते थे। उद्दालक की गृहस्थी बहुत बडी तो नहीं थी पर गौओं का एक बहुत बड़ा झुण्ड उनके पास अवश्य था। वेदाभ्यास

मे निरत एक तपस्वी ब्राह्मण के लिए उस समय वह बहुत बडी सम्पत्ति थी।

एक दिन उद्दालक के मन मे यह विचार आया कि 'सारी उमर बीतती जा रही है, अभी तक मैंने कोई बडा यज्ञ नहीं किया। इन छोटे-छोटे यज्ञों से क्या मोक्ष को प्राप्ति हो सकती है? यह धन सम्पत्ति और किस काम आएगी। इनके रखने से भी तो शान्ति नहीं मिलती, सन्तोष नही होता। अच्छा होगा कि सर्वमेध यज्ञ करके गृहस्थी का दुःखमयो झझट बहुत कम कर दिया जाय।'

इस तरह बहुत कुछ सोचने-विचारने के बाद उद्दालक ने सर्वमेध यज्ञ करने का इरादा पक्का किया। सर्वमेध कोई मामूली यज्ञ नही था, उसे बड़े-बडे राजा लोग करते थे। उसम यजमान को अपना सब कुछ दक्षिणा म दान कर देना पडता था। शास्त्रो मे उसके लिए कहा गया है कि जो सच्चे दिल से सर्वमेध यज्ञ करता है वह मृत्यु को जीत लेता है और ससार के सभी दुःखो से सदा के लिए दूर हो जाता है।

× × ×

उद्दालक का सर्वमेध यज्ञ प्रारम्भ हो गया। देश के कोने-कोने के बड़े-बडे विद्वान् पण्डित और महात्मा लोग उस यज्ञ मे सम्मिलित हुए। उद्दालक ने सचमुच अपनी सारी गृहस्थी समाप्त कर दी। पूर्णाहुति का पुण्य दिन आया, वेदो के पवित्र मन्त्रो का उच्चारण करते हुए पण्डितो ने आकाशमण्डल को गुँजा दिया। यज्ञधूम की चचल सुगन्धित लहरें क्षितिज तक व्याप्त हो गईं। पुण्यात्मा उद्दालक ने मागलिक गीतो और बाद्यों की आकाश भेदी ध्वनियो के बीच मे नारियल की अन्तिम आहुति यज्ञ कुण्ड मे समर्पित की और चारों ओर से उनका जय जयकार होने लगा। अब पण्डितो तथा आगत महात्माओं को दक्षिणा देने की वेला आई। गौओं का छोडकर उद्दालक के पास कोई वस्तु शेष नहो थी अतः वह उनमे से एक-एक गाय दक्षिणा रूप मे देने लगे।

अपनी सब गौओं का दान करते समय उद्दालक की पवित्र आत्मा भी सर्वस्व त्याग की कठोरता से काँप उठी। वह मन ही मन सोचने लगे—'सब गाएँ दे डालने पर जीविका कैसे चलेगी? बेटा भी अभी उम्र का छोटा है, क्या खायगा? मेरा वृद्ध शरीर भी अब इस योग्य नहीं रहा कि परिश्रम करके प्रति दिन की जीविका पैदा कर सकूँ।' वह सचमुच विचलित हो गये। लोभ की इस क्षीण काली रेखा ने उनके निर्मल हृदय में घना रूप बना लिया। उन्होंने गौओं के समूह की ओर दृष्टि डाली, देखा तो जितने पण्डित अभी शेष थे उससे अधिक गौएँ बचती थीं, मगर उनमें बहुतेरी बुड्ढी गौएँ भी शामिल थीं। वह कुश और अक्षत को नीचे रखकर गौओं के समूह की ओर चले गये। और वहाँ कपट से विचलित होकर अच्छी-अच्छी गौओं को पीछे की ओर छोड़कर बुड्ढी और अधेड़ गौओं को आगे की ओर हाँक लाये और उसी में से एक-एक करके पण्डितों को दक्षिणा देने लगे। उनकी इस चालाकी का पता किसी को कानों कान नहीं लगा, पर उनका बेटा नचिकेता, जिसकी उमर अभी दस-बारह साल से कम ही थी, यह सब देख रहा था।

नचिकेता का निष्पाप कोमल हृदय पिता की इस काली करतूत पर काँप उठा। उसने देखा कि महीनों तक अनवरत परिश्रम करने वाले पण्डितों को ऐसी-ऐसी गौएँ दी जा रही हैं, जो एकदम बुड्ढी हो चली हैं, न उनसे बछड़े की उम्मीद है, न दूध की। यहाँ तक कि उनमें से कुछ इतनी जर्जर हो गई हैं जो न कुछ खा सकती हैं न अधिक पानी ही पी सकती हैं। इन जीवन्मृत गौओं को दान में देकर पिता जी पण्डितों के साथ कितना विश्वास घात कर रहे हैं, यह सोचकर वह बहुत ही दुःखी हुआ। उसने पीछे की ओर देखा तो बड़ी अच्छी-अच्छी गाएँ चर रही थीं, और उद्दालक उनकी ओर तनिक भी ध्यान न देकर इन जर्जरित गौओं का चुपचाप दान करता जा रहा था। सामने जितनी वृद्ध गौएँ खड़ी थीं उतने ही पण्डितों को दान भी देना शेष था।

नचिकेता सोचने लगा—'क्या पिता जी सचमुच सर्वमेध यज्ञ कर रहे हैं ? नहीं, नहीं। यह पापमेध है, कपटमेध है, सर्वमेध नहीं। शायद पिता जी मेरे लिए इन को रख छोड़ते हों। हाँ! मगर उन्हें ऐसा तो नहीं करना चाहिए। यज्ञ नारायण के साथ कपट करके वह मेरा कल्याण किस प्रकार कर सकते हैं ? इस प्रकार के कपट व्यापार से बचाई गई ये गौएँ मेरा भी सत्यानाश कर देंगी। पण्डितों का मूक अभिशाप हमारे परिवार का भीषण विनाश कर देगा। पिता जी गिर रहे हैं, इनको बचाना या ठीक रास्ते पर लाना मेरा कर्त्तव्य होता है। मुझे ऐसे अवसर पर चुप नहीं रहना चाहिए।' विचारों के इस प्रखर प्रवाह में बहकर नचिकेता पिता के समीप गया और हाथ जोड़कर बोला—'तात! यह तो सर्वमेध यज्ञ है न ?'

उद्दालक का मुख भीतरी पाप की काली छाया से उस समय फीका पड़ रहा था। ब्रह्मवर्चस् एव सर्वस्व-त्याग की वह आभा जो अभी तक उनके उन्नत ललाट में दीपशिखा के समान जल रही थी, राख सी काली पड़ गई थी। पुत्र की सुमधुर विनीत वाणी में 'सर्वमेध' का नाम सुनकर वह भीतर से और भी काँप उठे। पर चुप कैसे रह सकते थे। मुख पर मुसकराहट की बनावटी रेखा बनाते हुए बोले—'हाँ वत्स! यह स.. स सर्वमेध यज्ञ है।'

उद्दालक तुतलाते तो नहीं थे पर पाप तो शिर पर चढ़ कर बोलता है न। अपनी दुष्कृति पर वह फिर से काँप उठे। पर पाप तो उन्हें अपने पथ पर बहुत दूर तक खींच चुका था, वहाँ से लौटना उद्दालक जैसे के लिए आसान काम नहीं था।

नचिकेता चुप बना रहा। आगे बोलने की उसमें हिम्मत सहसा नहीं पड़ी। वह समझता था कि 'सर्वमेध' का स्मरण दिला देना ही पिता जी के लिए पर्याप्त होगा, पर उसका पिता यह कैसे समझता कि नचिकेता क्या चाहता है ? वह फिर उन्हीं बुड्ढी गौओं में से एक गाय लाकर सामने [illegible] रहा था।

नचिकेता विवश होकर अनजाने में फिर बोल उठा—'मेरे तात ! इन सब गौओं को देने के बाद मुझे किसे दीजिएगा। आप ने तो बताया था न, कि इसम सब कुछ दे दिया जाता है।'

उद्दालक सिहर उठे। एक अज्ञात भय एव पाप की भयावनी मूर्ति-सी उन्हें दिखाई पड़ी। पर वह पाप-पथ से पीछे नहीं लौटे। नचिकेता का समाधान करना उन्होंने मुनासिब नही समझा। आँखों को तरेर कर उन्होंने एक उड़ती-सी निगाह नचिकेता पर डाली, जिसका तात्पर्य शायद यह था कि 'यहाँ से चले जाओ, व्यर्थ की बकवास मत करो।' पर नचिकेता वहीं खड़ा ही रहा। उसने देखा कि उसका पिता अब एक ऐसी गाय का दान करने जा रहा है जो उठाने की कोशिश करने पर भी नहीं उठ रही है और उधर दान लेने वाले पण्डित का मुख उदास हो गया है। फिर भी उसका पिता उस गाय को उसी तरह बैठे ही बैठे दान कर रहा है। वह एक दम विह्वल हो गया। उसने तय कर लिया कि पिता जी को अब ऐसा घोर पाप नहीं करने दूँगा। झटपट गाय के पास खड़े होकर उसने फिर वही बात दुहराई ! 'मेरे तात ! इस सर्वमेध यज्ञ मे मुझे किस ब्राह्मण को दान कर रहे हो। मैं उसे देखूँगा। मैं भी तो तुम्हारा ही हूँ न।'

उद्दालक की मानसिक पाप भावना ने कठोर क्रोध का स्वरूप धारण कर लिया। उनकी साँसें जोर-जोर से चलने लगीं। नथुने फड़-कने लगे, दाँतों की ऊपरी पंक्ति ने निचले होंठ को चबा लिया। आँखों से दाहक अंगार की ज्वाला-सी निकलने लगी। हाथ में लिए हुए कुश अक्षत और जल को नीचे फेंकते हुए वह भीषण स्वर में बरस पड़े—'पापात्मा कुपुत्र ! तुझे मैं यमराज को दान कर रहा हूँ, तू उसे शीघ्र ही देखेगा।'

विशाल यज्ञ मण्डप में एक छोर से दूसरे छोर तक उद्दालक के कठोर स्वर ने भीषण आतंक की लहर-सी फैला दी। जो जहाँ खड़े या बैठे थे, ठगे-से रह गए। धर्म के अवसर पर यह महान् अनर्थ। मंगल

मे अमगल। सब के देखते-देखते नचिकेता यमराज के घर जाने की तैयारी मे लग गया। वह सचमुच जमीन पर गिर पडा था और उसके मुख पर एक अपूर्व ज्योति की छटा विराजमान हो रही थी। कहने को तो उद्दालक के मुख से तीर के समान वह कठोर वचन निकल गया पर उसकी भीषण यथार्थता ने उन्हे विकम्पित कर दिया। एकलौते प्रिय पुत्र की मृत्यु के घर जाने की बात को वह किस प्रकार बर्दाश्त कर सकते थे। चारो ओर से लोग दौड पडे और घेर कर नचिकेता के पास खडे हो गए।

नचिकेता जब इस लोक से पिता की आज्ञा प्राप्त कर मृत्यु के लोक जाने का निश्चय कर चुका तो उसे वापस कौन करा सकता था। उद्दालक का सहज वात्सल्य कृत्रिम क्रोध को दूर भगाकर उमड पडा। पुत्र को स्नेह से अंक मे उठाते हुए वह गद्गद कण्ठ से बोले—'बेटा! तू कहाँ जा रहा है? मेरी बात का ध्यान न कर। मै आवेश मे यह सब कह गया। भला सोच तो सही, कि तेरे बिना मेरा बुढापा कितना कठिन हो जायगा। मेरे तात! मै पाप-पक मे फस गया था, मेरी बुद्धि बिगड गई थी, तू उसका ख्याल न कर।'

पर नचिकेता का लौटना आसान काम नहीं था। उसने दोनों हाथों को जोडकर विनीत स्वर मे कहा—'पूज्य तात! आप बतलाते थे कि मेरी इक्कीस पीढियों से लेकर आज तक किसी ने अपना वचन कभी भग नहीं किया है। मै भी चाहता हू कि अपनी वश मर्यादा को सुरक्षित रखूँ। पिता की (आप की) आज्ञा का उल्लघन, वह चाहे जिस दशा म भी हो, मै कभी नहीं कर सकता। आप भी अपना वचन निभाइये और प्रसन्नता के साथ मुझे मृत्यु के घर सकुशल पहुँचने का आशीर्वाद दीजिए।'

उद्दालक नचिकेता की इस निश्चय भरी विनत वाणी से विचलित हो गये। गले से लगाते हुए क्षीण स्वर मे उन्होंने कहा—'मेरे प्यारे! मै उस निर्मम मृत्यु के घर जाने का आशीर्वाद तुझे नहीं दे सकता,

जिसके स्मरण मात्र से मेरा हृदय काँप रहा है उसके पास तू कैसे जायगा। कुसुम के समान कोमल तेरा किशोर शरीर मृत्यु के पास जाने योग्य नही है। बेटा! मैने अपराध किया है, भले ही मुझे वचन भग करने का पाप लगे, पर मै तुझे वहाँ कदापि नहीं जाने दूँगा।'

नचिकेता ने आँखे खोलकर देखा तो उद्दालक की आँखों से आसुओं की अविरल धारा बह रही थी। अपने कोमल हाथों से आसू को पोंछते हुए उसने कहा—'पूज्य तात! मै उस मृत्यु को तनिक भी नहीं डर रहा हूँ, जिसके लिए आप घबरा रहे हैं। आप मेरी चिन्ता छोड दीजिए, और अपने पुण्यकर्मा पूर्वजों का स्मरण कीजिए जिन्होंने प्राण गँवा कर भी अपने वचन रखे हैं। असत्य का व्यवहार स्वार्थी और पापी जन करते हैं, उस असत्य से कोई अमर नहीं होता। मेरी बडी इच्छा यह है कि मेरे इस कार्य से आप के और मेरे—दो पुरुषों के वचनों की रक्षा हो। मेरी ममता की डोर मे बँधकर ही आप इतने विह्वल हो रहे हैं और इस तरह वचन-भंग करने का पाप अपने पवित्र कुल में लगा रहे हैं। मेरे न रहने पर आप अपना सर्वस्व त्याग कर सर्वमेध यज्ञ का महान् पुण्य पायेंगे। पुत्र का यही कर्त्तव्य है कि वह अपना सर्वस्व गँवाकर भी पिता के वचनो का पालन करे, उसकी इच्छा की पूर्ति करे। मेरे तात! मै इस अपूर्व अवसर को छोड़ नहीं सकता। मुझे रोककर आप यज्ञ की समाप्ति मे विलम्ब मत लगाइये। सर्वस्व त्याग कर सर्वमेध के इतिहास मे अपना अमर यश छोड जाइये।'

पुत्र के दृढ निश्चय और प्रेरणा से भरी बाते सुनकर उद्दालक में कुछ आगे कहने की हिम्मत नहीं पडी। यज्ञ मण्डप मे कुमार नचिकेता ने अपने पूज्य पिता के चरणों पर शीश धरकर मृत्यु लोक का मार्ग ग्रहण किया। सारी जन मण्डली चित्र के समान खडी देखती रह गई। वह अपने कर्त्तव्य-पथ पर कमर कस कर साहस और प्रसन्नता के साथ चल पडा।

× ×

मृत्यु याने यमराज के घर का मार्ग सचमुच बड़ा भयावना था। नचिकेता ने देखा कि अपने-अपने कर्मों के कारण लोग मृत्यु से किस तरह घबराते हैं। हृदय में छाई हुई पाप की रेखाओं से लोगों का मन इतना भयभीत है कि सारे मार्ग में हाहाकार मचा हुआ है। कोई अपने पुत्र के लिए रो रहा है तो किसी को पत्नी के वियोग का दुःख है। पर नचिकेता को तो सचमुच अपूर्व आनन्द मिल रहा था। प्रसन्नता और उत्साह के साथ उसने मार्ग की सारी कठिनाइयों का अन्त कर दिया। पिता की आज्ञा के पालन करने में उसे यहाँ जो शान्ति मिल रही थी वह भू लोक के जीवन में कहीं नहीं थी। निर्भीक नचिकेता जिस समय मृत्यु के द्वार पर पहुँचा उस समय सयोग से यमराज कहीं बाहर गए हुए थे। अतः द्वारपालों ने उसे भीतर घुसने की अनुमति नहीं दी। विवश हो कर उसे बाहर एक सुन्दर चबूतरे पर बैठ कर यम की प्रतीक्षा करने को कहा गया। वह चुपचाप बैठकर यम की प्रतीक्षा करने लगा।

कुछ ऐसा काम पड गया था कि यमराज तीन दिनों तक बाहर से अपने घर लौट नहीं सके। नचिकेता अविचलित मन से वहीं शान्तिपूर्वक बैठकर उनका इन्तजार करता रहा। बीच-बीच में वह यह सोच कर पुलकित हो जाता कि अब मेरे पिता जी ने उन अच्छी गौओं को दान में देकर सर्वमेध यज्ञ को पूरा कर लिया होगा। चौथे दिन यमराज अपने पुर को वापस आए। महल में प्रवेश करते हुए उन्होंने देखा कि एक परम तेजस्वी सुन्दर बालक हाथ जोडकर सामने खड़ा है, उस में भय की कोई रेखा नहीं है। यमराज ने मुसकरा कर पूछा—'कुमार तुम कौन हो और यहाँ किस लिए आए हो?'

नचिकेता के बोलने के पूर्व ही मृत्युगृह के दोनों सन्तरियों में से एक ने हाथ जोडकर कहा—'महाराज! यह तेजस्वी बालक तीन दिन तीन रात से यहीं बैठा हुआ है, न इसने कुछ खाया है, न कुछ पिया है।'

यमराज का कृत्रिम कठोर हृदय भी किशोर नचिकेता की करतूतों को सुनकर करुणा से उमड पडा। उन्होने फिर मुसकराते हुए कहा—'बेटा! तुम कौन हो और क्यो यहाँ आए हो? शीघ्र बतलाओ! मै बिना तुम्हारा काम किए हुए अन्न जल नहीं ग्रहण करूँगा।'

नचिकेता यमराज की इस सहज उदारता को देखकर निहाल हो उठा। पिता ने यम के बारे मे कितना गलत बतलाया था कि वह बडे भयानक हैं पर यह तो कितने दयालु हैं। सचमुच इनकी बातो को सुनकर मै अपूर्व सन्तोष पा रहा हूँ। थोडी देर तक मृत्यु के तेजस्वी मुख की ओर निर्निमेष ताकते हुए नचिकेता विनीत स्वर मे बोला—'देव! मै मुनिवर उद्दालक का पुत्र हूँ, मेरा नाम नचिकेता है। मेरे पूज्य पिता जी ने अपने सर्वमेध यज्ञ मे मुझे दक्षिणा रूप मे आपको प्रदान किया है। आप मुझे सस्नेह ग्रहण कर उन्हें यज्ञ की सम्पन्नता का आशीर्वाद दीजिए। मै इसीलिए आप की सेवा मे उपस्थित हुआ हूँ।'

यमराज तेजस्वी ब्राह्मण कुमार नचिकेता की निर्भीकता पर ठगे-से रह गए। उन्होंने मन मे सोचा, यज्ञ की दक्षिणा में सुकुमार पुत्र और सो भी मुझ को। धन्य है वह पिता, और धन्य है यह पुत्र! ऐसे दृढ निश्चयी ब्राह्मणों के लिए हमारा शतशः प्रणाम है। अपने जीवन मे मैने कभी ऐसे साहसी और सत्यनिष्ठ बालक को कही नहीं देखा है। ऐसे पुत्ररत्न के पैदा करने वाले पिता सचमुच धन्य है। विचारों की बाढ में यम बहने लगे। इस तरह थोडी देर तक चुप रहने के बाद उन्होंने नचिकेता के शिर पर हाथ फेरते हुए कहा—'बेटा! मेरे यहाँ आते हुए तुम डरे नहीं! तुम्हारे पिता ने भी कुछ नहीं सोचा। धीर से धीर लोग भी यहाँ आने मे विचलित हो जाते हैं। तुम धन्य हो।'

नचिकेता ने कहा—'देव! मै दुनिया मे केवल पाप से डरता हूँ, आप पाप तो हैं नही? मै तो आप को सारे ससार को शान्ति देनेवाला मानता हूँ। आप के समान उपकारी दुनियाँ मे दूसरा कौन है जो

मनुष्य के दीन हीन सन्तप्त जीवन को चिर शान्ति देता हो ।

कुमार नचिकेता की भोली भाली बातों को सुनकर यमराज बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'कुमार ! मुझे बहुत दुःख है कि तुम्हारे समान तेजस्वी निर्मलहृदय ब्राह्मण कुमार का मेरे दरवाजे पर तीन दिन तीन रात तक भूखा रहना पडा । बिना कुछ ओढे बिछाए हुए तुम इस चबूतरे पर पड़े रहे । मेरे आतिथ्य धर्म की इस से बडी हानि हुई है । मुझे सचमुच इसका बहुत अफसोस है । अपने इस दुःख को कम करने के लिए ही मैं तुझे तीन वरदान देना चाहता हूँ । तुम जो कुछ चाहो मुझसे माँग सकते हो । ब्राह्मणकुमार ! सचमुच तुम्हारे जैसे साहसी बालक के लिए मैं तीनों लोकों मे कोई भी वस्तु अदेय नहीं समझता ।'

यमराज की बातें सुनकर नचिकेता आनन्द के समुद्र में हिलोरें लेने लगा । वह कुछ क्षण के लिए सोचता रहा । फिर हाथ जोडकर बोला—'भगवन् ! मैं तो आप की ही वस्तु हूँ । यह आप की महत्ता है जो एक अतिथि का सम्मान देकर मुझे वरदान देना चाहते हैं । मैंने कोई बड़ा काम भी नहीं किया है, पर उसके बदले मुझे वरदान देकर आप अपनी दयालुता का परिचय दे रहे हैं । लोग दुनियाँ मे झूठे ही आप के नाम से भय खाते हैं, आप के समान सहज दयालु कौन है जो अपने कर्त्तव्य पालन करने वाले को भी वरदान देता है ।'

नचिकेता इतना कहकर चुप हो गया वह सोच रहा था कि मैंने कोई ऐसा काम नहीं किया है, जिसके बदले मे वरदान की याचना की जाय । इसी बीच यमराज फिर बोल पड़े—'कुमार ! तुम सकोच मत करो, बिना तुझे बरदान दिए हुए मैं अन्न जल तक नही ग्रहण कर सकता ।'

नचिकेता विवश हो गया । हाथ जोडकर विनीत भाव से बोला—'भगवन् ! मै अपने पूज्य पिता का इकलौता बेटा था । उनकी सेवा के लिए कोई दूसरा प्राणी मेरे घर पर नहीं है । मेरे यहाँ चले आने से उन्हे अपार कष्ट हो रहे होंगे, क्योंकि उनका शरीर भी शिथिल हो गया है ।

अतः मुझे पहला वरदान यही दीजिए कि मेरे पिताजी पूर्ण स्वस्थ और नीरोग हो जायें। मेरे विषय मे उनकी चिन्ताएँ मिट जायें और उनका क्रोध मेरे ऊपर से दूर हो जाय।'

यमराज ने दोनों हाथों को ऊपर उठाते हुए गम्भीर स्वर मे कहा—'ब्राह्मणकुमार! तुम्हारी यह अभिलाषा पूरी हो। तुम्हारे पिता ससार की सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त हो जायें। अब तुम मुझसे अपना दूसरा वर माँगो।'

नचिकेता थोडी देर तक मौन रहा। फिर हाथ जोडकर बोला—'देव! मैने सुना है कि स्वर्ग मे बडा सुख मिलता है। न वहाँ आप का (मृत्यु का) भय है न बुढापे का। भूख और प्यास भी वहाँ किसी को नहीं सताती। आप उस स्वर्ग लोक के प्रमुख अधिकारी हैं अतः उसे प्राप्त करने की विद्या तो अवश्य ही जानते होगे। ऐसी कृपा कीजिए कि वह मुझे भी प्राप्त हो जाय। यही मेरी दूसरी अभिलाषा है।'

यमराज को आज प्रथमबार स्वर्गविद्या का सच्चा अधिकारी मिला था। अतः उसे देने मे उन्हें अति प्रसन्नता हुई। गद्गद कण्ठ से वह बोले—'नचिकेता! तुम्हे स्वर्गविद्या की प्राप्ति अपने आप ही होगी। अब तीसरा वर माँगो। तुझे वरदान देते समय मुझे सचमुच बड़ी प्रसन्नता हो रही है।'

नचिकेता एक ऐसा ब्राह्मणकुमार था जिसका पिता जीवन की उपासना मे ही छला गया था। अत. उसने मन मे विचारा कि उस विद्या में कौन ऐसा गूढ रहस्य है, जिसके कारण मेरे पूज्य पिता जी के समान ब्रह्मवेत्ता भी ठगे गए। उसे अवश्य जानना चाहिए। विनीत वाणी मे उसने हाथ जोडकर कहा—'देव! आप जीवन विद्या के अनन्य आचार्य कहे जाते हैं। मै उस जीवन विद्या के गूढ रहस्य को जानना चाहता हूँ जिसके कारण मेरे पिता जी जैसे नि.स्पृह एव तपस्वी को भी धोका हुआ। अतः आप कृपा कर मुझे उस जीवन विद्या का तत्त्व बतलाइये इसके सिवा अब मुझे किसी अन्य वरदान की

आवश्यकता नहीं है।'

नचिकेता की बातो को सुनकर यमराज स्तब्ध रह गए। उन्हे स्वप्न मे भी यह खयाल नही था कि दस साल के इस ब्राह्मण किशोर मे सासारिक तत्त्वों की इतनी आकुल जिज्ञासा होगी। थोडी देर तक चुप रहने के बाद वह गम्भीर स्वर मे जॅभाई लेते हुए बोले—'कुमार! तुम जिस जीवन विद्या की चर्चा कर रहे हो वह तो बडे-बडे देवो के लिए भी दुर्लभ है। तुम शायद यह भूल गए कि मै मृत्यु का देव हूँ, मेरा नाम ही मृत्यु है, जीवन विद्या का मुझ से कोई सम्बन्ध नही है। तुम कोई दूसरा वर माँगो। यह वर पाकर भी तुम भला क्या करोगे।'

नचिकेता इस तरह धोके मे पडने वाला बालक नही था। वह जानता था कि दुनिया मे जीवन यानी जिन्दगी से बढकर दूसरी चीज कौन-सी है? जो जिन्दगी के सब तत्त्वो को जान लेगा उसे धन सम्पत्ति या स्वर्ग के राज से भी कोई मतलब नही रहेगा। अनमोल हीरे को छोड़कर मिट्टी का घरौदा लेना उसे क्यों पसन्द आता? उसने दृढता प्रकट करते हुए कहा—'भगवन्! यदि वह जीवन विद्या देवताओ को भी दुर्लभ है तब तो मै सब प्रकार का कष्ट सहन करके भी उसे पाना चाहूँगा। आप जो यह कह रहे हैं कि आप केवल मृत्यु के देव हैं उसी से तो मुझे मालूम हुआ कि आप जीवन के तत्त्वों को भी जानते हैं। क्योंकि जो अन्धकार को जानता है वही प्रकाश की किरणो को भी पहचानता है। बिना एक के जाने दूसरे का परिचय कैसे हो सकता है? मैं तो समझता हूँ कि आप के समान इस जीवन विद्या को सिखाने वाला दूसरा आचार्य मुझे कहीं अन्यत्र नहीं मिलेगा। देव! मै इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी वर नही चाहता।'

यमराज ने एक बार फिर नचिकेता को इस निश्चय से डिगाने का असफल प्रयत्न करते हुए कहा—'कुमार! तुम्हारे लिए मै ससार का समस्त धन-वैभव देने को तैयार हूँ। तुम चाहो तो मै सैकड़ो वर्ष की लम्बी उमर तुम्हे दे दूँ। पृथ्वी का सारा राज तुम्हारा कर दूँ, ऐसे

ऐसे रथ, घोड़े और हाथी दे दूँ जो इच्छा करते ही जहाँ चाहो पहुँचा दें। दास, दासी, राजभवन, सुन्दरी स्त्री, पुत्र-पौत्रादि जो कुछ भी चाहो, तुम्हारे लिए प्रस्तुत कर दूँ। स्वर्गलोक और मृत्युलोक का सारा भोग विलास भी मैं तुम्हें दे सकता हूँ मगर ऐसा वर मुझसे मत माँगो, जिसको देने की सामर्थ्य मुझमें है ही नहीं।'

सचमुच धन्य हो। इस ससार मे जन्म लेने वाले मनुष्य मात्र के जीवन मे एक बार ऐसा अवसर उपस्थित होता है, जब उसके सामने दो रास्ते दिखाई पडते हैं। एक होता है श्रेय का अर्थात् सच्चे सुख और वास्तविक कल्याण का तथा दूसरा होता है प्रेय का अर्थात् भोग-विलास मे भरा हुआ, दूर से आकर्षक किन्तु आगे चलने पर अशान्ति, दुःख और कठिनाइयो से पूर्ण। इनमे पहला उन्नति अर्थात् ऊपर चढ़ने का, मनुष्य से देवता बनने का तथा दूसरा पतन अर्थात् ऊपर से नीचे गिरने का, मनुष्य से राक्षस बनने का। बेटा! यह दोनों मार्ग मनुष्य को बड़े धोके मे डालने वाले होते हैं। जो उन्नति का पहला श्रेय मार्ग मैंने बतलाया है वह देखने मे बडा कटकाकीर्ण और पथरीला है। शुरू-शुरू मे उस पर चलना बहुत कठिन होता है। और इसके विपरीत दूसरा पतन का जो प्रेय मार्ग है, वह शुरू-शुरू मे बहुत सरल, मन को गुमराह करने वाला और सुविधाओं से भरा हुआ दिखता है। मनुष्य इनके पहचानने में धोके मे पड ही जाता है। तुम्हारी तरह बिरले ही लोग होते हैं, जो दूसरे को ठुकराकर पहले पर अग्रसर होते हैं। वत्स! वही मनुष्य सच्चा वीर, विवेकी और भाग्यशाली भी है, जो तुम्हारी तरह मानव जीवन के तत्त्वों को ढूँढने मे सब कुछ भुला देता है। मेरे बार-बार के प्रलोभन दिखाने पर भी जो तुम अपने निश्चय से नहीं डिगे, वह असाधारण बात है। बड़े-बड़े देवता, ऋषि मुनि भी उस स्थिति मे विचलित हो जाते हैं। वत्स! तुम धन्य हो। अब मैं तुम्हे जीवन विद्या की शिक्षा अवश्य दूँगा क्योंकि तुम उसके सच्चे अधिकारी हो। ससार मे बहुत से लोग अपनी प्रतिभा तथा बुद्धि द्वारा इस जीवन विद्या को जानने के लिए प्रयत्न करते हैं और थोड़े अंश मे उसकी प्राप्ति भी उन्हे हो जाती है, पर उनके अपने जीवन मे यथार्थ रूप मे वह ओत-प्रोत नहीं होती। स्वार्थ, द्वेष, लोभ आदि के कारण उनकी आत्मा से उसका सहज सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। फल यह होता है कि कच्चे पारे की तरह शरीर के अग-प्रत्यग से वह फूट पडती

है। ऐसे अनधिकारी, न केवल ससार को ही वरन् अपने आपको भी धोखा देते हैं। जो उस सजीवनी विद्या को सचमुच पाना चाहते हैं वह सब से पहले तुम्हारी तरह उसे धारण करने की योग्यता प्राप्त करे। इसके लिए उन्हे समार की सत्-असत् वस्तुओं की भलीभाँति परीक्षा कर लेनी चाहिए। सासारिक भोग विलास से बिल्कुल अलग हो जाना चाहिए। मुनिकुमार! अब मैं तुझे उस जीवन विद्या का उपदेश कर रहा हूँ। आज तक तुम्हारे समान इस जीवन विद्या का सच्चा अधिकारी मुझे कोई नहीं मिला। तुम धन्य हो।'

नचिकेता यम के दोनों चरणों पर अपना शीश रख कर धृष्टता के लिए क्षमा माँगने लगा। उसका हृदय कृतज्ञता से भर उठा था।

× ×

यम ने जीवन विद्या या ब्रह्म विद्या का यथेष्ट उपदेश देकर अन्त मे कहा—'हे तात! उस जीवन विद्या का मूल तत्त्व यही है कि जब मनुष्य की सारी इच्छाएँ बीत जाती हैं, जब मन सब प्रकार की मलिन वासनाओं से मुक्त हो जाता है, अन्तःकरण मे कोई कालिमा की रेखा नही रह जाती तब यह मरणशील मनुष्य अमर बन कर उसी जीवन मे ही ब्रह्म की प्राप्ति कर ब्रह्मानन्द मे लीन हो जाता है, उसके हृदय की सारी गाँठे खुल जाती है और वह कभी नही मरता। यही जीवन विद्या का साराश है जिसे मै तुम्हें बता चुका। अब तुम अपने घर को वापस जाओ और अपने पूज्य पिता के प्यासे नेत्रों को तृप्त करो।'

---

# सत्यकाम की गो-सेवा

[ ३ ]

महर्षि हरिद्रुम के पुत्र गौतम अपने समय के आचार्यो मे सब से बढ़े-चढ़े थे। उनके गुरुकुल मे देश के कोने-कोने से सैकड़ो विद्यार्थी विद्या सीखने के लिए आते थे। जिस समय का यह हाल है उस समय गुरुकुलों मे विद्यार्थियो से कोई फीस नहीं ली जाती थी, उनके खाने पीने और वस्त्र आदि का प्रबन्ध गुरु की ओर से ही होता था। इसका यह अर्थ नहीं कि गुरु लोग इतने धनी होते थे, किन्तु बड़े-बड़े राजा एवं गृहस्थ लोग उनकी आज्ञा से सदा गुरुकुल मे अन्न-वस्त्र से सहायता किया करते थे। कुछ विद्यार्थी देहात से केवल अपने खाने भर का अन्न माँग लाते थे।

गौतम के गुरुकुल मे अधिक भीड़ होने का कारण यह था कि वह अपने विद्यार्थियों के ऊपर कभी अप्रसन्न नहीं होते थे। उनका स्वभाव बड़ा दयालु था और पढ़ाने-लिखाने में भी वह बे-जोड़ थे। काठ के समान जड़ बुद्धि वाले बालक भी उनके यहाँ से पण्डित बन कर घर लौटते थे।

एक दिन गौतम ऋषि के आश्रम मे एक दस-बारह वर्ष का बालक ब्रह्मचारी के वेश मे आया, किन्तु न उसके हाथ मे दूसरे ब्रह्मचारियों की तरह समिधा थी, न कमर मे मुंज की मेखला थी, न कंधे पर मृगचर्म था और न कंठ मे जनेऊ थी। किन्तु बालक देखने में बड़ा होनहार और स्वभाव से विनम्र दिखा रहा था। गौतम के समीप जाकर उसने दूर से ही साष्टांग प्रणाम किया और बोला—'गुरुदेव! मै आपके गुरुकुल मे विद्या सीखने के लिए आया हूँ। मेरी माँ ने मुझे आप के पास भेजा है। मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक रहूँगा पर मेरा

अभी तक यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ है। भगवन्! मै आपकी शरण में आया हूँ, मुझे स्वीकार कीजिए।'

भोले-भाले किन्तु तेजस्वी बालक के यह शब्द गुरु गौतम के निर्मल हृदय मे अंकित हो गए। उसकी सरलता और तेजस्विता ने उन्हे थोडी देर के लिए विस्मित-सा कर दिया। थाडी देर तक अपने विद्यार्थियों की ओर देखने के बाद उन्होने मृदु स्वर मे पूछा—'वत्स! बहुत अच्छा किया जो तू यहाँ विद्या सीखने के लिए आया। तेरे पिता नही हैं क्या? तेरा गोत्र क्या है? मै तुझे अवश्य विद्या सिखाऊँगा। गुरु की सम्मति सुनकर पास बैठे हुए विद्यार्थियो मे काना-फूसी होने लगी। बालक ने तुरन्त ही विनम्र स्वर मे जवाब दिया—'गुरुदेव! मैंने अपने पिता जी को नहीं देखा है और उनका नाम भी नहीं जानता। अपनी माँ से पूछने के बाद मैं आप को बता सकता हूँ। मेरा गोत्र क्या है, इसका भी कुछ पता मुझे नहीं है। किन्तु गुरुदेव! इसे भी मैं माँ से पूछकर बतला सकता हूँ। मै आप की सेवा मे रात-दिन लगा रहूँगा और ब्रह्मचर्य का ठीक ठीक पालन करूँगा।'

बालक की भोली-भाली बाते सुनते ही गौतम की शिष्य मण्डली में एक दबी-सी खिलखिलाहट फूट निकली। अपने मुँह को बगल मे बैठे हुए साथी के कान के पास ले जाकर एक शिष्य ने कहा —'भाई! अब सुनो। दुनिया मे ऐसे भी लोग होते हैं, जिन्हें अपने पिता और गोत्र का नाम ही नही मालूम रहता। तिस पर वेद पढने के लिए आया है। मालूम होता है कि ब्राह्मण नही है।'

साथी ने कहा—'मुझे भी ऐसा ही लग रहा है। लेकिन भाई! है तो तेजस्वी। देखा न, बात कितनी गम्भीरता से कर रहा है, मुझे याद है कि जब मै पहली बार गुरुकुल मे आया तो किसी से बोलने की हिम्मत ही नहीं पडती थी यद्यपि मेरे पिता जी भी साथ-साथ थे। मगर इसे देखो तो ऐसा लगता है मानो यहीं जनम भर से रहता है।'

एक सयाना समझा जाने वाला शिष्य गौतम का मुँह लगा था।

उसने मुसकराते हुए कहा—'गुरुदेव ! क्या आप के गुरुकुल मे ऐसे भी छात्र प्रवेश पा सकते हैं, जिनका यज्ञोपवीत सस्कार भी नही हुआ रहता। यदि ऐसा है तो कल मै भी दस-बीस छात्रों को ले आऊँगा जो पडोस के गाँव मे रहते हैं।'

ऋषि गौतम अभी उस सयाने विद्यार्थी की ओर ताक ही रहे थे कि एक ऐंचेताने विद्यार्थी ने कहा—'गुरुदेव ! जिसको अपने पिता और गोत्र का नाम भो नहीं मालूम है क्या वह भी आप के यहा रह सकता है ?'

आगन्तुक बालक गौतम के आश्रमवासी शिष्यों की इस छींटाकशी को समझ रहा था। उनके इशारो और कानाफूसी का भाव भी समझ रहा था। पर उसका ध्यान गुरुदेव के शब्दो पर था। थोडी देर तक वह उसी तरह खड़ा रहा। गौतम भी उतनी देर तक जाने क्या-क्या सोचते रहे।

फिर अपने सामने विद्यार्थी की ओर देखते हुए गौतम ने कहा—'वत्स ! जिसका पिता नहीं है, उसका पिता गुरु है। मुझे ही उसका यज्ञोपवीत करना चाहिए। तुम जिन बालको की चर्चा कर रहे हो यदि उनके भी पिता नहीं है तो मै उन्हे सहर्ष आश्रम मे लेने को तैयार हूँ, उनका भी यज्ञोपवीत सस्कार मुझे करना पडेगा। तुम उन्हे ला सकते हो।'

ऐंचेताने विद्यार्थी के स्वभाव से गौतम परिचित थे अतः उसकी बातों का जवाब देना कोई जरूरी नही था। फिर तो बालक की ओर दयालु भाव से देखते हुए वह बोले—'बेटा ! अब तुम जाओ और अपनी मा से अपने पिता जी का तथा अपने गोत्र का नाम पूछ कर जल्द चले आओ। तुम्हारे उपवीत संस्कार मे तुम्हारे पिता और गोत्र के नाम की जरूरत पड़ेगी, इसीलिए तुम्हे यह कष्ट दे रहा हूँ; तुम कुछ दूसरा मत समझना।'

तेजस्वी बालक गुरुदेव के चरणो पर शीश रख कर तथा छात्र

मंडली की ओर हाथ जोड कर प्रणाम करने के बाद अपने निवास स्थान की ओर रवाना हो गया। थोडी देर तक उसकी इस विनय भरी चेष्टा ने गौतम समेत उनकी छात्र मण्डली मे निस्तब्धता का वातावरण पैदा कर दिया। उसके जाने के थोडी देर बाद गौतम ने शिष्यों को सम्बोधित कर कहा—'वत्सो! किसी नये बालक के साथ तुम्हे सगे भाई सा व्यवहार करना चाहिए। देखो न, वह कितना सरल, तेजस्वी और होनहार बालक है।'

शिष्य मण्डली एकदम चुप हो गई थी।

× ×

दूसरे दिन प्रातःकाल गौतम की शिष्य मण्डली नित्य कर्म से निवृत्त होकर गुरु के पास पाठ पढने के लिए आ गई थी। गुरु उन्हें पाठ पढाने आ ही रहे थे कि वह तेजस्वी बालक उसी वेश-भूषा मे फिर आ गया। कल की तरह उसने फिर गुरु को दण्डवत् प्रणाम कर शिष्य मण्डली की ओर हाथ जोड कर अभिवादन किया। गौतम ने बैठने का आदेश देते हुए पूछा—'वत्स! अच्छा हुआ तुम आ गए। आज ही शुभ मुहूर्त में तुम्हारा उपवीत संस्कार प्रारम्भ कर देना चाहिए। अपनी माँ से पिता का नाम और गोत्र तो पूछ आए हो न?'

बालक ने खडे होकर जवाब दिया—'हाँ गुरुदेव! माता जी से पूछ आया हूँ। मा ने कहा है कि मेरे पिता जी का नाम उसे भी मालूम नहीं है। वह अपनी युवावस्था मे अनेक साधु-सन्तों की सेवा मे लगी रहती थी, उन्हीं दिनों मे उसे गर्भ भी रह गया था। जिससे गर्भाधान हुआ था उसका नाम और गोत्र मेरी मा को भी मालूम नहीं है। उसने यह कहा है कि गुरुदेव से जाकर यह सब बाते इसी तरह कह देना। और यदि माता के नाम से उपवीत संस्कार हो सकता हो तो मेरा नाम जबाला बतला देना। बस यही उसने कहा है। अब आपकी जो आज्ञा हो।'

शिष्यों की उत्सुक मण्डली मे जोर का तहलका मच गया। उस

ऐचेतानें विद्यार्थी ने अपने बगल मे बैठे हुए एक साथी से कहा—'मैंने तो तुरन्त ही यह अन्दाज लगा लिया था कि दाल में कुछ काला जरूर है।' साथी ने कहा—'भाई! जो भी हो! बालक है तेजस्वी और सत्य बोलने वाला। ऐसी बात तो मै अपने बारे मे सच होने पर भी कभी नहीं कह सकता था।'

शिष्यो की ओर दृष्टि फेरते हुए गौतम ने कहा—'वत्सो! तुम्हे ऐसे सत्यनिष्ठ और निर्भीक बालक की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी चाहिए।' फिर बालक की ओर बैठने का इशारा करते हुए वह बोले—'बेटा तुम्हारी बातें सुन कर मुझे यह निश्चय हो गया कि तुम सच्चे ब्राह्मण-कुमार हो। मै तुम्हारा नाम सत्यकाम रखता हूँ। मैं तुम्हे शिष्य रूप मे अंगीकार कर सारी विद्याएँ सिखाऊँगा। शिष्यो! इस सत्यकाम का उपवीत सस्कार आज ही प्रारम्भ होगा, तुम सब जाओ और सब सामग्री इकट्ठी करो।'

गौतम की निश्चय भरी वाणी सुन कर शिष्य मण्डली चित्र के समान ठगी-सी बैठी रह गई। थोडा देर तक चुपचाप रहने के बाद काना-फूसी करते हुए वह उठे और कई झुडो मे बँट कर उपनयन सस्कार की सामग्रिया इकट्ठी करने के लिए इधर-उधर चले गए।

शुभ मुहूर्त मे सत्यकाम का उपनयन सस्कार सम्पन्न किया गया। गौतम की पत्नी ने अपने इस प्रिय शिष्य की कटि मे मुंज मेखला पहिनाई। आज से जबाला का पुत्र होने के कारण उसका नाम जाबाल भी रखा गया। इस तरह सत्यकाम जाबाल नाम से वह गौतम के गुरुकुल मे विख्यात हुआ। यद्यपि बहुतेरे छात्र उसके प्रति गौतम का अटूट स्नेह देख कर मन ही मन जलते थे पर उसकी विनीत वाणी और विनम्र स्वभाव से मुख पर कुछ कहने का साहस उनमे भी नही होता था।

× ×

यज्ञोपवीत के चार दिन बीत गए। पाँचवे दिन प्रातःकाल हवन

कर लेने के बाद गौतम ने सत्यकाम को पास बुलाकर, शिष्यों को सुनाते हुए कहा—'बेटा सत्यकाम! आज से तुझे एक सेवा का काम सौंपता हूँ, उसके लिए तुझे आश्रम से बहुत दूर वन में जाना पड़ेगा।'

सत्यकाम ने हाथ जोड़कर कहा—'गुरुदेव! मेरा आश्रम वही है, जहाँ रहने के लिए आपकी आज्ञा होगी। मुझे गुरुदेव की क्या सेवा करनी पड़ेगी?'

शिष्य मण्डली गौतम की बातें सुनने के लिए उत्सुक हो उठी। चारों ओर आँखें फेरते हुए गौतम ने कहा—'वत्स! मेरे पास इस समय चार सौ गौएँ हैं, इनको ठीक से खाने-पीने को यहाँ नहीं मिलता। बहुत-सी एकदम बुड्ढी और बेकाम भी हो गई हैं। मैं चाहता हूँ कि तुम इन सब को साथ लेकर सुदूर वन में चले जाओ और वहीं रहकर चराओ। जिस दिन इनकी संख्या चार सौ से बढ़ कर एक सहस्र की हो जायगी, उसी दिन लौट कर आने पर तुम्हारा स्वागत किया जायगा। बोलो! तुम्हें स्वीकार है न?'

सत्यकाम का हृदय प्रसन्नता से भर उठा था, हाथ जोड़ कर गद-गद कण्ठ से वह बोला—'गुरुदेव! अपनी आज्ञा दे देने के बाद आप जो यह पूछते हैं कि 'स्वीकार है न?' यही मेरा अभाग्य है। आपकी आज्ञा ही मेरे जीवन का ध्येय है। मैं सहर्ष तैयार हूँ, मुझे जाने की आज्ञा दीजिए।'

शिष्य मण्डली में से एक भावुक छात्र ने कहा—'गुरु जी! यह छोटा बालक बेचारा अकेले चार सौ गौओं की रखवाली किस तरह कर पाएगा? दो एक सहायक इसके साथ और भी कर दीजिए।'

सत्यकाम ने कहा—'भाई! मुझे सहायकों की जरूरत नहीं है, गुरुदेव की आज्ञा ही मेरी सहायक है।'

पहले गाय चराने वाले एक शिष्य ने अपने उस साथी से, जो सहायक की बात कर रहा था, कान में कहा—'अजी! जाने भी दो। बेवकूफ मर जायगा। इतनी गौओं का सँभालना आसान काम नहीं

है, अभी इसको कभी का अनुभव नहीं है कि गुरु जी की गौएँ कितना परेशान करती हैं।'

दूसरे साथी ने कहा—'भाई सत्यकाम ! यहाँ तो कह ले रहे हो मगर वहाँ जब जगली पशु गौओं के ऊपर टूटेंगे तो तुम अकेले क्या कर सकोगे ?'

सत्यकाम ने कहा—'गुरुदेव ! का आशीर्वाद उन हिंसक जगली पशुओं को भी मार कर भगा देगा। मुझे उनका तनिक भी भय नहीं है।'

गौतम की शिष्य मण्डली के सब विद्यार्थी एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। किसी मे अब इतनी ताब नहीं रही जो सत्यकाम का परिहास कर सकता। गौतम ने उसका शिर सहलाते हुए कहा—'बेटा ! तेरे साहस और उत्साह की जितनी प्रशसा की जाय थोड़ी है। तुझे ससार मे कोई भी कठिन काम न होगा। हिमालय का दुर्गम शिखर और समुद्र की भीषण लहरें भी तुम्हारे मार्ग मे बाधा नहीं डाल सकतीं, वन्य हिंसक पशुओं की क्या शक्ति है ?'

सभी लोग चुप थे। गौतम ने छाती से लगा कर सत्यकाम को आशीर्वाद दिया। वह गौओं के साथ वन मे जाने के लिए तैयार हो गया। गुरुदेव के चरणो की धूल को ललाट मे लगाकर उसने शिष्य मण्डली का अभिवादन किया। सब लोग ताकते रह गये। तेजस्वी सत्यकाम ने गोशाला की ओर जाते हुए गुरुपत्नी को भी प्रणाम किया और विधिवत् आशीर्वाद ग्रहण कर जगल की ओर प्रस्थान किया। उसके हाथ मे एक लाठी थी। कधे पर मृगचर्म तथा कमण्डल। और पीठ पर गुरुपत्नी के दिए हुए पथ के लिए कुछ उपहारो की एक गठरी, जो लटक रही थी। उसके साथ चल रही थीं चार सौ दुर्बल गौएँ।

गौओ को साथ लेकर उसने ऐसे सुन्दर वन का मार्ग पकड़ा, जिसमे गौओं के लिए चारा, जल और छाया की अनेक सुविधाएँ थीं। कभी वह आगे-आगे चलता और कभी पीछे-पीछे। किसी गाय

की पीठ पर थपकियाँ देता और किसी का मुख चूमता। छोटे छोटे बछड़ों के साथ उसका भाई जैसा स्नेह हो गया। मार्ग मे जिधर वह चलता उसी ओर सारा का सारा झुण्ड उमड पडता। इस प्रकार चलते-चलते उस सुन्दर सघन हरे-भरे प्रदेश मे वह पहुँच गया, जिसकी लालसा मे आश्रम से चला था। वहाँ पहुँच कर उसने देखा कि कोसो तक एक सपाट मैदान है, जिसमे लम्बी-लम्बी घासे उगी हुई हैं, सघन छायादार वृक्षों की कतारे हैं, छहों ऋतुओ मे निर्मल जल से भरी रहने वाली कई पवित्र बावलियाँ हैं। न वहाँ बहुत ठढक पडती है न भीषण गर्मी। दूर से ही शीतल मद सुगन्धित पवन के प्राणदायी झोंकारे गौओं समेत उसका स्वागत करते हुए मानों बुला रहे थे। उस सुन्दर वन्य प्रान्त मे पहुँच कर सत्यकाम ने गौओं को रुकने की आवाज दी और स्वय अपने लिए एक छोटी-सी झोपडी के प्रबन्ध मे लग गया। झोपडी को तैयार कर वह तन मन से गुरु की आज्ञा मे लग गया। रात दिन गो-चारण के सिवा वहाँ उसके लिए दूसरा काम ही क्या था? आस पास के रमणीय सृष्टि-सौन्दर्य मे वह इतना तन्मय हो उठा, गौओ की स्नेह भावना में इस प्रकार लीन हो उठा कि कभी एक क्षण के लिए भी उसे अपने अकेलेपन का स्मरण नहीं हुआ। एक-एक कर दिन पर दिन बीतते चले गये। वन की स्वच्छन्द प्राकृतिक सुविधाओं मे पल-कर गौओं की सख्या मे आशातीत वृद्धि हुई। जो आश्रम से आने पर निरी बछियाँ थीं वे तीन ही चार वर्षो मे दो-दो तीन-तीन बछडों की माँ बन गईं। बुड्ढी गौएँ भी जवान को मात करने लगी। इस प्रकार सत्यकाम का वह आश्रम एक गुरुकुल ही हो चला था। गौओ के छोटे-छोटे बछडे उसको आगे पीछे से घेर कर कूदते फाँदते निकल जाते। उनको सत्यकाम विविध नामों से जब पुकारता तो भीड मे से उछ-लते हुए उसके ऊपर चढने को वह आतुर हो उठते। वह उनका कभी तो मुख चूमता और कभी मीठी थपकियाँ और थपेड़े देकर कोई उलाहना देता। यदि सयोग से कोई गाय बीमार हो जाती तो वह तन

मन से उनकी सेवा में जुट जाता, जब तक वह अच्छी न होती तब तक अन्न-जल भी न ग्रहण करता। बडे-बडे बलवान् गजराज की तरह ऊँचे बैलों की भीड देख कर सत्यकाम के हर्ष का वारापार न रहता। इस तरह उसके चार-पाँच वर्ष बीत गए। चार सौ गौओं की सख्या सत्यकाम के अनजाने मे ही सहस्र से अधिक हो चुकी थी, पर उसे इसका पता नही था। वह कभी इनको गिनता तो था नहीं, जो तुरन्त ध्यान जाता, क्योंकि उस सन्तोष और शाति मे वह अपना जीवन चला रहा था, जिसमे मनुष्य का ध्यान हिसाब-किताब भूल कर केवल काम पर रहता है।

एक दिन प्रातःकाल सत्यकाम सूर्य को अर्घ्य दे रहा था कि पीछे खडी हुई बैलों की भीड मे से मनुष्य की-सी आवाज आई—"सत्य-काम!" सत्यकाम के लिए मानव-स्वर चार पाच वर्षो मे अपरिचित हो चला था। आवाज सुनते ही उसका ध्यान बॅट गया। पीछे देखा तो एक बलवान् ऊँचा वृषभ आगे बढ़कर उसकी ओर ताक रहा है। सत्य काम ने कहा—'भगवन्! क्या आज्ञा है?'

वृषभ न कहा—'वत्स! अब हमारी सख्या सहस्र से ऊपर हो रही है। अब हमे आचार्य के पास ले चलो। अपनी अटूट सेवा से तुम ब्रह्मज्ञान के अधिकारी बन चुके हो। मेरी ओर देखो, मै तुम्हे ब्रह्मज्ञान के एक पाद (अश) का उपदेश कर रहा हूँ!'

सत्यकाम ने हाथ जोडकर आदरपूर्वक कहा—'भगवन्! आप के उपदेश को प्राप्त कर मेरा जीवन सुफल हो जायगा।'

× × ×

वृषभ ने सत्यकाम को ब्रह्मज्ञान के एक अश का उपदेश देने के बाद कहा—'वत्स! इस अश का नाम प्रकाशवान् है। अगला उपदेश तुम्हे स्वयं अग्निदेव करेंगे।' इतना कहने के बाद वृषभ का मानवीय स्वर बन्द हो गया और वह भीड़ मे जाकर जुगाली करने लगा।

ब्रह्मज्ञान के एक अश को ग्रहण करने के बाद सत्यकाम का

ललाट तेज की अधिकता से दीप्तिमान् हो उठा, हृदय मे शान्ति छा गई। मन एक अलौकिक सन्तोष से भर-सा गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल सत्यकाम गौओं को लेकर गुरुकुल की ओर जब रवाना होने लगा, तब वहाँ के पशु-पक्षी तथा लता-गुल्म् तक उदास हो गए। रास्ते मे उसने पहली रात बिताने के खयाल से सूर्यास्त के समय एक सुरम्य प्रदेश मे डेरा डाल दिया और गौओं के शान्तिपूर्वक बैठे जाने के बाद अग्नि मे हवन करने बैठ गया। पहली आहुति डालते ही यज्ञाग्नि की ज्वाला मे अग्नि नारायण प्रकट हुए और बोले—'वत्स सत्यकाम !'

सत्यकाम ने हाथ जोडकर गद्गद स्वर में कहा—'भगवन् ! क्या आज्ञा है ?'

अग्नि नारायण ने कहा—'सौम्य ! तुम ब्रह्मज्ञान के पूर्ण अधिकारी हो चुके हो, मैं तुम्हे ब्रह्मज्ञान के द्वितीय पाद का उपदेश करूँगा। इसका नाम अनन्तवान् है. अगला उपदेश तुम्हे हँस करेगा।'

सत्यकाम ने कहा—'भगवन् ! आप के उपदेश से मेरा जीवन धन्य हो जायगा।'

× × ×

अग्नि नारायण सत्यकाम को ब्रह्मज्ञान के द्वितीय अंश का उपदेश कर वहीं अन्तर्हित हो गए। सत्यकाम की लौकिक कामनाऍं अग्नि नारायण के उपदेश से विलीन हो गईं। रात भर वह उसी उपदेश का मनन करता रहा। दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही गौओं को साथ लेकर वह आगे बढा और सन्ध्या समय एक सुन्दर सरोवर के सुरम्य तट पर ठहर गया। गौओं के लिए निवास की व्यवस्था करने के बाद वह पिछले दिन की तरह यज्ञाग्नि को जलाकर साधना मे लीन हो गया। इतने ही में पूर्व दिशा से एक सुन्दर हस ऊपर से उडता हुआ आया और सत्यकाम के पास बैठ कर बोला—'सत्यकाम !'

सत्यकाम की समाधि भंग हुई। हाथ जोडकर गद्गद स्वर मे

विनीत भाव से वह बोला—'भगवन्! क्या आज्ञा है?'

हंस ने पंख को फड़फड़ाते हुए कहा—'वत्स सत्यकाम! तुम्हारी साधना से प्रसन्न होकर मैं तुम्हें ब्रह्मज्ञान के तृतीय पाद का उपदेश करने के लिए आया हूं। इसका नाम ज्योतिष्मान् है, इसके बाद का उपदेश तुम्हें एक जलमुर्गी करेगी।'

सत्यकाम धन्य हो गया। बोला—'भगवन्! आपके उपदेश रूपी अमृत का पानकर मेरी जीवन बाधा छूट जायगी।'

× × ×

हंस सत्यकाम को ब्रह्मज्ञान के ज्योतिष्मान् अंग का उपदेश कर वहीं अन्तर्धान हो गया। सत्यकाम अब सचमुच ज्योतिष्मान् हो गया। तेज की अनुपम आभा से उसके शरीर की कान्ति और भी झलकने लगी। रात भर वह ज्योतिष्मान् ब्रह्म की आराधना में लीन रहा और दूसरे दिन प्रातःकाल गौओं को हांककर गुरुकुल के मार्ग पर आगे चला। सन्ध्या आई और एक विशाल वट वृक्ष के नीचे गौओं के विश्राम की व्यवस्था कर सत्यकाम समीप की बावली में सन्ध्या वन्दन के लिए चला गया। प्रतिदिन की भांति हवन के लिए अग्नि जलाने के बाद आहुति डालते समय सत्यकाम के सामने एक जलमुर्गी आकर खड़ी हो गई और प्यार भरे स्वर में बोली—'वत्स सत्यकाम!'

सत्यकाम उठकर खड़ा हो गया। और हाथ जोड़कर विनीत स्वर में बोला—'भगवति! क्या आज्ञा है?'

जलमुर्गी सत्यकाम को बैठने का आदेश करती हुई बोली—'वत्स! तुम्हारी साधना अब पूरी हो गई है। ब्रह्मज्ञान के तुम अधिकारी बन चुके हो। इसीलिए तुम्हें वृषभ रूपधारी वायु ने, साक्षात् अग्निदेव ने तथा हंस रूपधारी सूर्य ने ब्रह्मज्ञान के तीन चरणों का उपदेश किया है। अब मैं तुम्हें ब्रह्मज्ञान के अन्तिम चतुर्थ पाद का उपदेश करूंगी। इसका नाम आयतनवान् है। इसे सीखने के उपरान्त तुम ब्रह्मज्ञान के पूर्ण पण्डित बन जाओगे।

सत्यकाम सुनने के लिए सावधान हो गया। जलमुर्गी उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश कर उड गई। वह रात भर उसके मनन मे लीन रहा। दूसरे दिन प्रातःकाल गौओं को साथ लेकर वह गुरु के आश्रम की ओर चल पडा और सायकाल होने मे अभी कुछ देर ही थी कि पहुँच भी गया। आश्रम मे गौओ की लबी भीड देखकर गौतम का हृदय प्रसन्नता से भर उठा। उन्हे गौओं की सख्यावृद्धि से अधिक सुख सत्यकाम की सफलता मे मिल रहा था।

सत्यकाम ने जाकर गुरु के चरणों में सादर प्रणाम किया। गुरु पत्नी के चरण छुए और गौओ को गोशाला की ओर कर के स्वय गुरु के पास खडा हो गया। इसी बीच आश्रम की शिष्यमडली मे सत्यकाम के वन से वापस आने की चर्चा पहुँच गई। जो जहाँ रहे वहीं से उसे देखने के लिए दौड पडे। चारो ओर से शिष्यो की भारी भीड गौतम और सत्यकाम को घेर कर खडी हो गई। लोगो ने देखा कि सत्यकाम अब वह बालक सत्यकाम नही रह गया है। इन चार वर्षो के बीच मे उसका तेजस्वी शरीर ब्रह्मवर्चस् की अनुपम आभा मे देदीप्त हो उठा है, आँखो मे बिजली की-सी चमक आ गई है, ललाट पर चन्द्रमा की आभा है और सभी बाह्य इन्द्रियों से मानसिक प्रसन्नता के लक्षण दिखाई पड रहे हैं। उसका सुन्दर मुख सूर्य के समान तेजोमय किन्तु कमल के समान मनोहर लग रहा है। 'इतने थोडे समय मे गौओं की सख्या वृद्धि करके उसकी सेवा, धीरता, सत्यनिष्ठा और लगन ने सब को मोह लिया। गौतम ने बैठने की आज्ञा देते हुए सत्यकाम से कहा—'वत्स! तुम्हारे चेहरे की शान्ति और शरीर की कान्ति से मुझे यह निश्चय हो रहा है कि तुम केवल हमारे कारे सत्यकाम ही नहीं रह गए हो वरन् सेवावृत्ति से ब्रह्मतेज का अश भी तुम मे आ गया है। क्या वन मे किसी गुरुचरण की कृपा तुम पर हो गई थी?'

सत्यकाम ने कहा—'गुरुदेव! मुझे मार्ग मे ऐसे चार दिव्य प्राणियों ने ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया है जो एक से एक बढ़कर तेज-

स्वी मालूम पड़ते थे।'

गुरु के पूछने पर सत्यकाम ने मार्ग की सारी बातें गौतम को बतला दी। गौतम ने सम्मान भरे स्वर मे कहा—'वत्स! तुम्हारी सत्य की साधना ने ही तुम्हे आज इस सफलता के द्वार पर ला पहुँचाया है। तुम धन्य हो। तुम्हारे जैसे पुत्ररत्नो को पाकर ही पृथ्वी का भार कम हो सकता है। तात! अपने अध्यापन जीवन मे मैंने तुम्हार समान सत्य-निष्ठ, सच्चरित्र और धैर्यशाल छात्र को कभी नही पाया था। तुम्हारी सेवाभावना और ज्ञान की प्यास की जितनी प्रशसा की जाय थोड़ी है।'

सत्यकाम गुरु गौतम के अमृतवर्षी प्रशसात्मक वाक्यों का सुनकर कृतज्ञता के बोझ से दबने-सा लगा। उसे बोध हुआ कि हमारे गुरुदेव कितने दयालु और महात्मा हैं। हाथ जोड़कर उसने कहा—'गुरुदेव! आप के आशीर्वाद और सत्कामना ही का ना यह फल मुझे मिला है, अन्यथा मेरी योग्यता ही क्या है? आप जैसे गुरु के समीप मे रहकर यदि मैंने कुछ सीख लिया है तो उसमे मेरा क्या है? ब्रह्मज्ञान के चारों अशों का उपदेश यद्यपि मैने भली भाँति ग्रहण कर लिया है, पर आप की दी हुई विद्या से ही उसकी सफलता मुझे मिलेगी। मै चाहता हूँ कि आप मुझे उनका पुनः यथेष्ट उपदेश कीजिए। आपके उपदेशों के विना मुझे पूर्ण शान्ति नही मिल रही है।'

इस प्रकार विनीत सत्यकाम के अनुरोध पर गौतम ने उससे कहा—'वत्स! ब्रह्मविद्या का जितना उपदेश तुमने प्राप्त किया है, वही उसका परम तत्व है। अब तुम्हारे लिए इस चराचर जगत् मे कोई भी वस्तु अज्ञेय नहीं है। यह सब तुम्हारी गो-सेवा का महान् पुण्य फल है। उसके प्रसाद से ही तुम्हे यह सिद्धि प्राप्त हुई है।'

सत्यकाम ने गुरु के चरणो पर मस्तक रखकर गद्गद स्वर म कहा—'किन्तु गुरुदेव! उस गो-सेवा का अवसर देनेवाली तो आप की महान् कृपा ही है न!'[1]

---

[1]छान्दोग्य उपनिषद् से।

# उपस्ति की कठिनाई

[ ४ ]

हस्तिनापुर से लेकर पंजाब के पूर्वी भाग का नाम प्राचीन काल में कुरु प्रदेश था। यहीं पर राजा कुरु का वह कुरुक्षेत्र भी है जहाँ कौरवों और पाण्डवों के बीच में होने वाले महाभारत का युद्ध हुआ था। यहाँ पर अक्सर पानी कम बरसता है। संयोग की बात, एक बार उसी कुरु प्रदेश में भीषण वृष्टि हुई। दस-बारह दिनों तक लगातार वृष्टि होती रही और एक घंटे के लिए भी बूंदाबांदी बन्द नहीं हुई। उसका परिणाम यह हुआ कि सारा देश चौपट हो गया। लाखों जानें चली गईं, हजारों मकान नदियों की धारा में बह गए। सैकड़ों गावों का कहीं कोई पता ही नहीं रह गया। सारी फसल चौपट हो गई, जो कुछ अन्न गृहस्थों के घर में था वह सब भी इस बाढ़ में नष्ट हो गया और सारा देश अकाल में ग्रस्त हो गया। लोग फूटे अन्न के लिए तरसने लगे। उस समय रेल तार की सुविधा तो थी नहीं जो बाहर से कुछ सहायता पहुँचाई जाती। सारे देश के लोग भोजन की खोज में बाहर चले गये और जो अपाहिज थे, चल फिर नहीं सकते थे, वे मृत्यु के कराल गाल में चल बसे।

उसी कुरु प्रदेश में सरस्वती नदी के पवित्र तट पर एक विद्वान्

ब्राह्मण चक्र का निवास स्थान था। वह अपने समय के बहुत बडे विद्वान माने जाते थे। दूर-दूर से सैकडो विद्यार्थी आ-आ कर उनके गुरुकुल मे अध्ययन करते थे। चक्र की मृत्यु के बाद उनके पुत्र उपस्ति गुरुकुल का काम चलाने लगे। वह भी चक्र की तरह बहुत बडे विद्वान थे। उस भीषण बाढ म नदी तट पर होने के कारण जब आश्रम का कोई पता नही रहा और सब शिष्य मण्डली भी आहार की कमी मे पढाई छोडकर चली गई तब उषस्ति भी अपनी नव पत्नी आटिकी को साथ लेकर आहार की चिन्ता मे बाहर निकले। आटिकी का ब्याह हुए अभी थोडे ही दिन बीते थे, वह अभी इतनी सयानी नहीं हुई थी कि मार्ग की कठिनाइयो का सामना कर सके। इसलिए उपस्ति के साथ पैदल चलते-चलते उसके पैर सूज आए, तलुवों मे छाले पड गए और सारा शरीर थकान से चूर-चूर हो गया। ऊपर से सूरज की ज्वाला मे उसकी आँखे अन्न के एक-एक कण के लिए भी लालायित थी। उपस्ति जैसे विद्वान् को देश मे या परदेश मे जो इतनी कठिनाई उठानी पडी उसका कारण भीषण दुष्काल था। जब किसी के पास अपने ही खाने भर का अन्न नहीं था तो अतिथि, गुरु, पुरोहित की चिन्ता कैसे की जाती। आहार की खोज मे वह इतने परेशान हुए कि जिन्दगी मे इसका कभी अन्दाजा भी नहीं हुआ था। जिनके हाथ बडे-बडे राजाओं के यहाँ कभी हीरे-जवाहर के लिए भी नहीं खुले थे वही मार्ग मे एक मुट्ठी अन्न के लिए इधर उधर बीसों जगह शिर मार कर रह गये पर कही भी सफलता नही मिली। अन्त मे आटिकी एक जगह हताश होकर प्राण त्यागने पर उतारू हो गई। उपस्ति का हृदय विधि की इस विडम्बना पर विद्रोही हो उठा कि जो कभी सैकडो विद्यार्थियों का पोषक था वही आज एक मुट्ठी अन्न के लिए अपनी स्त्री की मृत्यु देख रहा है। थोडी देर तक दोनो प्राणी एक वृक्ष की छाया मे इधर-उधर देखते हुए बैठे रहे। सयोग अच्छा था। पूर्व देश के पाँच-छ पथिक जिनके पास कुछ अन्न शेष बच गया था, उसी मार्ग से कहीं जा रहे थे। आटिकी की विपदा

उनसे सही नहीं गई। अगले दिन की कोई चिन्ता न कर के एक दयालु पथिक ने आटिकी के लिए अपना बचा खुचा अन्न दे दिया। उसे खाकर आटिकी की म्रियमाण जीवन-ज्योति कुछ देर के लिए टिमटिमाने लगी। तदनन्तर उपस्ति ने प्रोत्साहन देते हुए परिहास के स्वर में उससे कहा—'प्रिये! अभी विधि को हम लोगों की जोडी कुछ दिनों तक कायम रखनी है। चलो आगे बढे! सुनने म आ रहा है कि उधर कोशल प्रदेश मे इतना अकाल नहीं पडा है, वहाँ खाने भर का भोजन तो आसानी मे मिल जाता है। तो फिर हम ब्राह्मणो को खाने-पीने की वहाँ कोई कमी नहीं पडेगी, केवल पहुँचने भर की देर है।' आटिकी उठ बैठी, और पति के पाछे पीछे धीरे-धीरे चलने लगी। दस बारह दिनों से उपस्ति को भी अन्न देवता के दर्शन दुर्लभ हो गए थे। पेड की पत्तियों को खा-खाकर कब तक चल सकते थे। उसी दिन सन्ध्या होने-होते उनके साम्स ने भी जवाब दे दिया। ब्रह्मचर्य के कारण तेजस्वी शरीर ने इतने दिनों तक साथ दिया पर ईंधन के अभाव म आग कब तक जलती रहे। उनके भी पैर लडखडाने लगे, कमजोरी के कारण आँखों मे बार बार आँसू आने लगे, पेट मे आँते एक दूसरे मे चिमट कर सूख-सी गई। गला भी सूख गया और हड्डियों मे दर्द होने लगा। अब तक जो मार्ग मनोहर कथाओं के कहने-सुनने मे कट रहा था वह अशक्ति के कारण चालना बन्द कर देने मे एकदम दुर्वह बन गया। आटिकी अपने प्राणपति की इस दुर्दशा को अपनी आँखों से देख रही थी, पर क्या करती?

सन्ध्या हो गई। सूर्य की किरणें वृक्षों की चोटियों पर अपनी आखिरी शक्ति का परिचय कराने लगीं। मध्याह्न का तेजस्वी भास्कर आग के एक गोले के समान पश्चिम के क्षितिज पर दिखाई पडने लगा। यह वेला उपस्ति के सन्ध्या वन्दन की थी। पर आज उन्हे यह मालूम हुआ मानों सूर्य के समान उनके जीवन सूर्य का भी सदा के लिए अस्तमान होने वाला है। एक जलाशय के समीप पहुँच कर उपस्ति ने आटिकी

से कहा-—'प्रिये ! थोड़ी देर के लिए रुक जाओ, सन्ध्या वन्दन तो कर लूँ । कौन जाने कल का सूर्य मुझे न मिले !' आखिरी बातें करते समय उपस्ति का मुरझाया मुखमण्डल प्रदीप्त हो उठा । तरल आंखों मे मोती की दो बूंदे बाहर निकल कर धारा बनाने लगी ।

आटिकी ने अपने कमल के समान कोमल हाथों से पति के आँसू को पोछते हुए कहा—'प्राणनाथ ! ऐसा क्यों कहते हो ? दोपहर को तो तुम ने कहा था कि अभी हमारी जोड़ी बहुत दिनों तक कायम रहेगी सो अभी क्यों ऐसी बात जबान पर लाते हो । मेरा मन कह रहा है कि आगे वाले गाँव मे तुम्हे कुछ खाने को अवश्य मिलेगा ।'

उपस्ति के सूखते प्राणो मे आटिकी की उत्साह रस मे भरी बातों ने थोड़ा सा जीवन डाल दिया । निराशा के घने बादल जो उसके साहसी हृदय को भी छेक चुके थे, इन उत्साह पूर्ण बातों से कुछ क्षण के लिए दूर हो गए । जलाशय मे किसी तरह उतर कर उसने सन्ध्या की और फिर हरि का स्मरण करते हुए आगे का मार्ग पकड़ा ।

अगले गाँव मे पहुँचते-पहुँचते उपस्ति को काफी रात बीत चुकी थी । अकाल का प्रभाव इस गाँव मे भी था । गाँव भर में केवल महावतो की बस्ती थी जो बहुत गरीबी के दिन बिताते थे । यहाँ तक किसी तरह पहुँच कर उपस्ति की कृत्रिम संजीवनी शक्ति समाप्त होने पर आ गई । आगे की एक-एक पग भूमि उन्हे योजनो से भी बढ़कर दूर मालूम होने लगी । आखिरकार दोनो पति-पत्नी ने इसी गाँव मे रात काटने की बात तय कर ली और गाँव मे जो सब से अधिक सम्पन्न महावत था उस के द्वार पर जाकर पड़ाव डाल दिया ।

धनी महावत उस समय भोजन कर रहा था, भोजन भी कोई दूसरा नहीं था । तीन-चार दिनो के बाद वह भी कहीं से माँग-जाँच कर उड़द ले आया था और उसी को पकाया था । उस समय उसकी थाली मे बहुत थोड़ा उड़द बच रहा था । उपस्ति ने जब देखा कि महावत उड़द खा रहा है तो उन्हे यह निश्चय हो गया कि इसके घर मे कोई

फँसाकर मेरे दोनों लोकों को व्यर्थ न कीजिए।'

उषस्ति को महावत की यह विनीत बातें तीखे बाणों की तरह दुःखदायी लग रही थीं। उनका आतुर मन थाली में बचे हुए उडद की ओर था और चिर सचित ज्ञान, धैर्य तथा विवेक एकमत होकर आकुल प्राणों की रक्षा में लगे थे। वह झल्ला उठे और कुछ कठोर स्वर में बोले—'भाई! मुझे धर्मशास्त्र की शिक्षा न दो। मनुष्य का सब मे प्रधान धर्म है प्राणों की रक्षा। मुझ में अब थोडा देर के लिए भी भोजन की प्रतीक्षा करने की ताब नहीं है। तुम्हें कोई भी पाप नहीं लगेगा, वरन् एक जीवन दान करने का महान् पुण्य मिलेगा।'

महावत आगे क्या बोलता? चुपचाप हाथ मुँह बिना धोए ही उसने अपनी थाली और जल समेत लोटे को उषस्ति के सामने रख दिया। जीवन के इस कठोर सत्य को निर्निमेष नेत्रों से वह देखने लगा और इधर देखते ही देखते उषस्ति ने थाली के उडद में से थोडा सा अगली बार के लिए छोडकर सब सफाचट कर दिया। आटिकी पहले ही इतना भोजन पा चुकी थी जो कम से कम चौबीस घण्टे तक जीवन-रक्षा करने में समर्थ था। उडद खा चुकने पर उषस्ति ने महावत से जल माँगा। महावत ने कहा—'महाराज! उसी लोटे में जल भी है।' इस पर उषस्ति ने कहा—'भाई! मैं तुम्हारा जूठा जल नहीं पी सकता, क्योंकि ऐसा करने पर मुझे पाप लगेगा और तुम्हारा भी धर्म नष्ट हो जायगा।'

महावत विस्मय में डूबने-उतराने लगा। वह सोचने लगा कि यह ब्राह्मण अजीब सनकी मालूम पड रहा है। जूठे उडद के खाने में इसको पाप नहीं लगा और जूठे पानी के पीने में पाप लगेगा और मेरा धर्म भी नष्ट हो जायगा। वह चुप नहीं रह सका। विनीत स्वर में बोला—'महाराज! आप ने मेरे जूठे उडद तो खा लिए पर पानी पीने में क्या हरज है?'

उषस्ति के निर्जीव शरीर में अन्न ने कुछ चेतना पहुँचा दी थी।

हाथ की अँगुलियों को चाटते हुए वह बोले—'भाई ! यदि मैं तुम्हारे जूठे उडद को न खाता तो थोडी ही देर में मेरे प्राण पक्षी उड जाते। किन्तु जल के बिना तो मेरे प्राण रह सकते हैं, उसका कहीं भी अभाव नहीं है। प्राणों को सकट मे समझ कर ही तुम्हारा जूठा उडद मैने खाया है, जल तो कहीं भी पी सकता हूँ। यदि उडद की तरह तुम्हारे जूठे जल को भी मै पी लूँ तो वह स्वेच्छाचार होगा, आपद्धर्म नहीं। आपद्धर्म उस धर्म को कहते हैं जो प्राणो के बचने का कोई उपाय न रहने पर किया जाता है। उस दशा मे अगर धर्म की मर्यादा कुछ टूट भी जाती है तो दोष नहीं लगता।'

उपस्ति की बाते महावत के मन मे सटीक बैठ गई। उसने झट पट हाथ मुँह धोकर लोटे को साफ कर जल दिया। उषस्ति भी हाथ मुँह धोकर निवृत्त हुए। वह रात उन्होंने महावत के घर पर ही बिताई। रात भर अनेक पुरानी कथाओं को सुन कर महावत धन्य हो गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल उठ कर उपस्ति ने प्रातः कर्म से निवृत्त हो कर आगे का मार्ग पकडा। भक्त महावत ने बहुत दूर तक पहुँचा कर सन्तुष्ट उषस्ति का मगल आर्शीवाद ग्रहण किया। आगे-आगे उषस्ति और पीछे पीछे आटकी अनेक तरह की बाते करते हुए मार्ग पर बढ़ने लगीं। धीरे-धीरे दोपहर का समय समीप आया। एक सुन्दर सरोवर के मनोहर तट पर दोनो प्राणी बैठ गए। तटवर्ती विशाल वट वृक्ष की सुखद छाया मे लेट कर उपस्ति की आखे झँप गई। आटकी भी थकान मे चूर होकर उसी वट वृक्ष के ऊपर निकली हुई एक मोटी जड पर शिर लटका कर उँठग गई। और उसकी भी आखे आलस की गोद मे थोडी देर के लिए मुँद गई।

मध्याह्न हो गया। पक्षी गण धूप को सहन न कर सकने के कारण वट वृक्ष पर आ-आकर जमा होने लगे। समीप वाले गाँव के चरवाहे अपने-अपने पशु लेकर सरोवर में नहाने लगे। गाँव की स्त्रियों का समूह उसी वट वृक्ष के नीचे आकर जमा होने लगा, क्योंकि उनका

वही घाट था। इसी बीच आटकी की आखे खुल गई, सामने खड़ी हुई स्त्रियों को देख कर वह उठ बैठी और सकुचाते हुए एक वृद्धा को सम्बोधित कर बोली—'माता जी ! बैठिए। मेरी आखे झॅप गई थीं, थकान के कारण शरीर एकदम चूर-चूर हो गया है। आप लोग देर से यहाँ आई हैं क्या ?'

एक नवयुवती ने मुसकराते हुए कहा—'बहिन ! आप कहीं बहुत दूर मे आ रही हैं क्या ? आपको देखने ही से ऐसा मालूम हो रहा है कि बहुत थक गई हैं। हम लोगो ने अभी-अभी आकर आपकी नींद मे बाधा डाल दी।'

आटकी सहमते हुए बोली—'नही बहिन ! इसमे बाधा डालने की क्या बात है ? मै इधर पश्चिम के देश से आ रही हूँ। कई दिन चलते-चलते बीत गए। हमारे देश मे बड़े जोरों का अकाल पड गया है, बाढ मे सब कुछ नाश हो गया।'

वृद्धा ने उषस्ति की ओर संकेत करते हुए कहा—'बेटी ! वह तुम्हारे पतिदेव हैं ? देखने मे तो बहुत बड़े पडित-से लगते हैं।'

आटकी थोडी देर तक चुप रही, फिर बाद मे सिर नीचे कर बोली—'हाँ, उनकी पाठशाला मे सैकडों विद्यार्थी पढते थे। एक समय था, जब सब विद्यार्थियों के अन्न-वस्त्र की व्यवस्था की जाती थी, अब अपने ही लिए एक मुट्ठी अन्न नही मिल रहा है। सरस्वती की बाढ मे आश्रम और गुरुकुल सब का विनाश हो गया। दाने-दाने को लाले पड़ गए हैं।'

स्त्रियाँ बैठ गईं। आटका की मधुर बातों ने उन्हे मोल ले लिया। फिर तो आटकी के साथ उनकी अनेक तरह की बाते होने लगी। थोडी ही देर मे पिता के घर से लेकर यहाँ आने के पहले तक का उसका सारा वृत्तान्त उन्हे मालूम हो गया। आटकी को भी यह बता दिया गया कि वह गाँव भी अकाल की छाया से अछूता नही बचा है, गाँव के प्रायः सारे पुरुष दूर परदेश में चले गए हैं और वहीं से महीने पन्द्रह

दन का भोजन लेकर आते हैं और देकर फिर चले जाते हैं। पूरे गाँव मे स्त्रियों और बच्चों को छोड़कर सयाना कोई नही है। चारे के अभाव से कितने पशु-पत्ती भी मर गये हैं।

इसी बीच मे उषस्ति बरगद की छाया मे से छनकर आने वाली सूर्य की किरणों से जाग पडे और आँखे मोचते हुए उठ बैठे। उन्हे जगा देखकर स्त्रियाँ भी उठ कर नहाने के लिये जाने लगीं। जाते हुए बूढी स्त्री ने कहा—'बेटी! अपने पति से कहो कि यहाँ से दस कोस की दूरी पर एक राजा बहुत बडा यज्ञ कर रहा है। उसमे बहुत बडे-बड़े पडित बुलाये गए हैं। उन्हे दक्षिणा भी खूब दी जायगी। वहाँ जाने से भोजन-वस्त्र की कोई चिन्ता नहीं रहेगी। इतने बडे विद्वान् को पाकर वह बहुत सम्मान करेगा। मेरा बेटा भी वहाँ गया हुआ है।'

उषस्ति भी वहाँ की बाते सुन रहा था। आटिकी ने उठ कर स्त्रियों को बिदा किया और फिर पति के समीप आकर उससे राजा के यज्ञ का हाल बतलाया।

उषस्ति ने जँभाई लेते हुए कहा—'प्रिये! मै भी उस बूढी की बातें सुन रहा था किन्तु इस समय भूख इतनी जबरदस्त लग गई है कि कोस भर चलने की भी हिम्मत नहीं है। यहाँ सुस्ता लेने के कारण वह और भी जाग पडी है। अभी चलना दस कोस है।' आटकी बैठ गई और गठरी मे बँधे हुए पिछले दिन के बचे उडद को देती हुई बोली—'प्राणनाथ! यह उडद अभी शेष है। इसे खाकर पानी पी लिया जाय। कुछ दूर चलने की शक्ति आ जायगी।'

उषस्ति बहुत प्रसन्न हुए। बोले—'फिर तो अब किसी बात की चिन्ता नहीं है। इतना खा लेने पर तो दस कोस पानी पी-पीकर चल लेंगे। यज्ञ में पहुँचने पर तो खाने पीने का दारिद्र्य नहीं रह जायगा। देखेंगे, कहाँ-कहाँ के विद्वान् आए हुए हैं।'

आटकी ने सरोवर से जल लाकर रख दिया। उषस्ति बड़े चाव से बासी और जूठे उडद के दाने मे से थोडा आटकी के लिए अलग

करके स्वय खाने लगा। उसके पानी पी लेने के बाद आटकी भी उडद खाकर और पानी पीकर आगे का मार्ग तय करने को तैयार हो गई। दोपहरी लटक गई थी। सूर्य पश्चिम की ओर वापस आकर समस्त ससार को अपने-अपने कर्मो मे प्रवृत्त होने का सन्देश दे रहा था। धूप की चमक कुछ मन्द हो चली थी। आटकी और उषस्ति वट वृक्ष की छाया से उठकर पूर्व की ओर जानेवाली पगडण्डी को पकडकर आगे बढ़े। वृक्ष पर बैठे हुए पक्षियों के झुड ने अपने कलरव से उस दम्पति को सफल होने वाली यात्रा की शुभ सूचना दी।

चलते-चलते सायकाल हो गया। उषस्ति और आटकी ठीक उसी तरह अविश्रान्त गति से अपनी पगडण्डी पर चलते रहे जिस तरह पीछे का सूर्य चल रहा था। अधकार की काली रेखाएँ दिशाओं मे छाने लगी। पश्चिम का क्षितिज लाल हो गया। पक्षी गण दिन भर से सूने अपने-अपने घासले की नीरवता भग करने लगे, पर उषस्ति का गन्तव्य अभी तीन कोस शेष था। थकान से चूर चूर आटकी के अग-प्रत्यंग जवाब दे रहे थे। रात मे राजा के द्वार पर पहुँच कर भी कोई लाभ नहीं था अतः विवश दम्पति ने एक ऐसे स्थान पर अपना डेरा जमा दिया, जहाँ दूर तक न कोई बस्ती थी, न कोई जलाशय था। ऐसे वीरान स्थल मे भोजन का कोई उपाय न देख निराशा ने भूख की तडपन को एकदम बन्द कर दिया। दोनो प्राणी उसी पगडण्डी से कुछ दूर जाकर भूमि पर लेट गए और एक विचित्र सन्तोष की सासे खींचते हुए तारों की ओर ताकने लगे। इसी बीच में उन्हे यह भी पता नही लगा कि आँखो की पलको ने एक दूसरे का सयोग प्राप्त कर इस दुःखदायी दुनिया से उन्हे रात भर के लिए कब दूर कर दिया। थकान के कारण टूटने वाले उनके अगों ने निद्रा के मीठे अकों मे पड कर सन्तोष की साँस ली थी तो सहसा वे कैसे उठते। आखिरकार प्रातःकाल की सरदी ने उन्हे जगाया और आगे चल कर शेष मार्ग काट देने की प्रेरणा दी। क्योंकि बहुत सवेरे ही राजा के यज्ञ मे पहुँच जाने पर उसी

दिन सम्मिलित हा जाने का लोभ था। दम्पति उठ कर फिर कल की तरह आगे की पगडण्डी पर चलने को तैयार हो गए। उस समय भुजैटा अपने ठाकुर जी को तथा दूर वाले गाँव के मुर्गे दशरथ जी को पुकारने लगे थे।

सुहावना प्रातःकाल हुआ। सूर्य की किरणों ने ससार मे कर्म जाल का बुनना प्रारम्भ कर दिया और उषस्ति का प्रतीक्षित राजा का नगर सामने दिखाई पडा। आशा के सुमधुर प्रकाश ने निराशा के घोर अन्धकार को क्षण भर मे ही दूर भगा दिया। उनमे बला की शक्ति आ गई। जिस समय राजा के नगर मे उन्होंने प्रवेश किया उस समय आटकी पीछे-पीछे थी और वह आगे-आगे।

× × ×

राजा का यज्ञ पिछले पाँच छः दिनों से प्रारम्भ था। दूर तक फैले हुए विशाल मण्डप मे सैकडों विद्वान् यज्ञकुण्ड के चारों तरफ बैठ कर आहुति छोड रहे थे। मण्डप के चारों प्रवेश-द्वारों पर एक-एक वेदो के पाठ करने वाले सुमधुर स्वर के साथ मत्रों का पवित्र उच्चारण कर रहे थे। कही पर जप करने वाले पण्डित बैठकर जप कर रहे थे और कही आहुति की तैयारी मे अनेक पुरोहित लगे हुए थे। उस समय प्रहर दिन चढ चुका था। राजा विधिवत् स्नानादि से निवृत्त होकर पण्डितों के बीच मे बैठ कर यज्ञाग्नि मे आहुति डालने जा रहा था। उपस्ति ने पूर्वद्वार पर नियुक्त प्रहरियो के रोके जानेके बाद भी यज्ञ मण्डप मे बलात् प्रवेश किया। उस समय उसका तेजस्वी शरीर उसके महान् पाण्डित्य की सूचना दे रहा था अतः प्रहरियों को सामान्य वेश भूषा मे रहने पर भी उसे रोकने की हिम्मत नही पडी। प्रवेश करते ही उषस्ति ने सारे यज्ञ मण्डप मे एक उडती हुई दृष्टि डाली। उससे यह छिपा नहीं रह सका कि दक्षिणा के लोभ मे पड़े हुए इन पुरोहितों एवं पण्डितों मे कौन कितने पानी मे है? उसने देखा कि पडितों का मन कहीं दूसरी जगह है और आँखे कहीं दूसरी

जगह। मुँह से बुड़बुडाते हुए जप करने वाले पुरोहितों की आँखे यज्ञ मण्डप की छत मे अटकी हुई हैं और हाथ से माला की एक-एक मनिया अपने नियत क्रम मे नीचे गिरती जा रही है। यज्ञ-कुण्ड की ओर आँखें फेरते ही उसे मालूम हो गया कि आहुति डालने वाले पुरोहितों मे भी कितने ऐसे हैं जो स्वाहा के बाद भी आहुति गिराना एकाध बार भूल जाते हैं। इस प्रकार राजा के यज्ञ की इस महान् दुर्दशा को देखकर उषस्ति का निश्छल मन तिलमिला उठा और स्वाभिमानी पाण्डित्य जाग पडा। स्वर को गम्भीर और कठोर बनाते हुए उसने पूर्व प्रवेश द्वारा के पुरोहित को सबोधित कर कहा—'प्रस्तोता महोदय ! आप के इस याज्ञिक पाप कर्म को देख कर मुझे बडा दुःख हो रहा है। क्या आप जिस देवता का स्तुति-पाठ वहाँ बैठ कर कर रहे हैं उसका कुछ स्वरूप भी जानते हैं ? यदि स्वरूप को विना जाने या पहिचाने ही आप याद किए गए मत्रो को यों ही पढ़ते जा रहे हैं तो याद रखिये कि अब आपका मस्तक नीचे गिर पड़ेगा।'

उपस्ति की धीर गंभीर वाणी सारे यज्ञ मण्डप मे आतक मचाती हुई पडितों के हृदय में घुस गई। उन्हे मालूम होंने लगा मानो सचमुच अभी अभी मस्तक नीचे गिर रहा है। सब के सब भीतर से काँप उठे। राजा हाथ की आहुति को अग्नि मे डालते हुए उठ खडा हुआ। पुरोहितो एव पण्डितों की मडली भी राजा के साथ ही उठ कर खडी हो गई। तब तक उषस्ति मण्डप के दूसरे प्रवेश द्वार पर उद्गाता को पुकार कर कह रहा था—'हे उद्गीथ की स्तुति करने वाले विप्र ! यदि आप उद्गीथ भाग के देवता का स्वरूप विना पहचाने हुए यो ही उनका उद्गान करेंगे तो अब आप का मस्तक नीचे गिर पडेगा।'

राजा भी उषस्ति की गम्भीर वाणी से काँप उठा। रग मे भग होने की भीषण सभावना ने उसे भी विचलित कर दिया। उसे मालूम होंने लगा मानो दक्ष का यज्ञ विध्वस करने वाला वीरभद्र आज पुनः भूमण्डल मे आ गया है। धीरे-धीरे वह उसी ओर बढने लगा जिस

ओर उपस्ति घूम रहे थे। इसी बीच १ उषस्ति मण्डप के तीसरे द्वार पर पहुँच कर प्रतिहार के गान करने वाले को पुकार कर कह रहे थे—'प्रतिहार के गान करने वाले महोदय ! यदि आप देवता को बिना जाने उसका प्रतिहार करेंगे तो अब आप का मस्तक नीचे गिर जायगा।'

इस प्रकार उषस्ति की भीषण तथा गम्भीर वाणी को सुन कर यज्ञ मण्डप के सभी पुरोहित, प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्त्ता अपने-अपने मस्तक के नीचे गिरने के डर से काँपने लगे और यज्ञीय कर्मों को छोड कर चुपचाप खडे हो गए। इसी समय भयभीत राजा हाथ जोड कर उषस्ति के चरणों पर गिर पडा और थोडी देर तक चुपचाप पड़े रहने के बाद उठकर खडा हुआ। उषस्ति-सा क्रुद्ध और स्वाभिमानी ब्राह्मण राजा की इस विनीत भावना से पराभूत हो गया और हँसते हुए बोला—'राजन्। कहो क्या बात है ?'

राजा ने गिडगिडाते हुए हाथ जोडकर कहा—'भगवन्। आप कौन हैं ? मै आप का परिचय जानना चाहता हूँ।'

उपस्ति ने कुछ गम्भीर होकर कहा—'राजन्। मै उस परमर्षि चक्र का पुत्र उपस्ति हूँ, जिसके पाण्डित्य की चर्चा जगन्मण्डल मे व्याप्त थी। शायद इससे अधिक परिचय देने की आवश्यकता मुझे नहीं है।'

राजा प्रसन्नता से नाच उठा और गद्गद कठ से बोला—'ओ हो ! भगवन् ! ब्रह्मर्षि चक्र के सुपुत्र उषस्ति आप ही हैं ! योग्य पिता के सुयोग्य पुत्र ! आप का नाम तो मै बहुत दिनो से सुन रहा था। इस यज्ञ के लिए भी मैंने अपना दूत आप की सेवा मे भेजा था पर दूतों ने आकर यह बतलाया कि बाढ मे आश्रम के बह जाने के बाद आप छात्रों समेत कहीं अन्यत्र चले गए हैं। मैने अभी कल तक आपको ढूँढ़ने के लिये सब जगह चर भेजे हैं। मेरे धन्य भाग्य ! जो आप के समान विद्वान् ब्राह्मण के चरणों का रज शीश में लगाया। भगवन् ! मेरे सौभाग्य से ही आप का पदार्पण यहाँ हुआ है क्योंकि मै तो आप के बारे में बहुत निराश हो चुका था।'

उषस्ति ने मुसकराते हुए कहा – 'राजन् ! किन्तु मुझे अभी तक आप का परिचय नहीं मिला था, क्या आप सचमुच मेरे पूज्य पिता जी को और मुझे जानते थे ।'

राजा ने विनीत भाव से कहा—'भगवन् ! आप के पूज्य पिता जी की मेरे ऊपर बड़ी कृपा रहती थी । वह वर्ष मे एक बार इधर अवश्य आते थे । मेरे अनेक यज्ञों के सारे काम उन्हीं के आचार्यत्व मे सम्पन्न हुए हैं । इधर कई वर्ष से उनका शुभागमन नहीं हुआ । उन्हीं के मुख से मैने आप का नाम भी सुन रखा था । इस यज्ञ के प्रारम्भ होने के ठीक तीन दिन पूर्व आप के पिता जी के देहावसान का समाचार मिला है और तभी आप के पास मैंने दूत भी भेजा था ।'

उषस्ति ने कहा—'राजन् । बहुत अच्छा । आप चलिए और यज्ञ सम्पन्न कीजिये । मेरे क्रुद्ध होने का कारण केवल इतना ही था कि यह ऋत्विज लोग दिखाऊ मन से यज्ञ की सारी क्रियाएँ सम्पन्न कर रहे थे, इनको मै सावधान कर देना चाहता था । आप अपने मन मे यह खयाल न करे कि इनमे कोई त्रुटि ह । यह सब के सब परम विद्वान् हैं, ब्राह्मण हैं, और यज्ञ की समस्त विधिओं के जानने वाले हैं किन्तु मन को चुराने वाले हैं । अब यह पहले की तरह असावधानी नहीं कर सकते, आप निश्चिन्त रहिए । क्योंकि अब सचमुच असावधानी करने पर इनका मस्तक नीचे गिर जायगा ।'

राजा ने कहा—'भगवन् ! अब तो मै चाहता हूँ कि मेरे यज्ञ की सारी विधि आप ही सम्पन्न करे ।'

उषस्ति ने कहा—'राजन् ! दुविधा मे यज्ञ का श्रेय नष्ट हो जाता है । मेरी बातों पर विश्वास रखिए । आप के यह पुरोहित सब के सब परम विद्वान् हैं, अब इनसे कोई त्रुटि नहीं होगी । मेरी ही आज्ञा से यह सब यज्ञ कर्म सम्पन्न करेंगे । मै चाहता हूँ कि जितनी दक्षिणा इन्हें दी जाय उतनी ही मुझे भी दी जाय । मै न तो इन्हे आप के यज्ञ से निकालना चाहता हूँ और न दक्षिणा मे अधिक धन लेकर इनका

अपमान ही करना चाहता हूँ। मेरी देख-रेख मे यह सब के सब अपना अपना काम शुरू कर दें।'

राजा ने कहा—'भगवन्! आप की आज्ञा शिरोधार्य है।'

तदनन्तर प्रस्तोता, उद्गाता आदि समस्त ऋत्विजो ने उषस्ति के समीप आ-आकर विनयपूर्वक उनमे यज्ञ की समस्त विधिओं की यथोचित शिक्षा प्राप्त कर उस विषय म सदा के लिए पूरी जानकारी कर ली और फिर उषस्ति के आचार्यत्व मे राजा का यज्ञ पूर्ववत् चलने लगा।

इस प्रकार चक्र के पुत्र उषस्ति ने ऐसी कठिनाइयो का सामना कर आपद्धर्म द्वारा अपने प्राणों की रक्षा की थी और उस धर्मभीरु राजा का यज्ञ सम्पन्न किया था।[1]

---

[1] छान्दोग्य उपनिषद् से।

# महात्मा रैक और राजा जानश्रुति

[ ५ ]

हमारे देश मे ऐसे-ऐसे दानी राजा पैदा हो गए हैं, जिनकी कीर्ति आज तक दुनिया मे गाई जाती है। वह इतने बडे परोपकारी और धर्मात्मा थे कि आज उनके कामों पर विश्वास करने वाले लोग भी बहुत कम हैं। राजा होकर भी वह अपने लिए एक पैसे की चीज नहीं रखते थे, अपना सब कुछ दान मे दे देते थे। खुद तो पत्तलों मे खाते थे और मिट्टी के बरतनों मे पानी पीते थे किन्तु उनके यहाँ से माँग कर ले जाने वाले सोने और चाँदी के बरतनों में खाते-पीते थे। वह साल में दस-बीस ऐसे यज्ञ कराते थे जिनमें देश के कोने-कोने से ऋषि, मुनि, पण्डित, सन्यासी, वैरागी, भिक्षुक, अतिथि, अभ्यागत सम्मिलित होते थे और मनमानी दक्षिणा पाकर जीवन भर के लिए धन की चिन्ता से छुट्टी पा जाते थे। प्रजा की छोटी-छोटी जरूरतों की भी वे खबर रखते थे और आजकल के राजाओं की तरह अपने ऐशो-आराम की तनिक भी चिन्ता न कर प्रजा के सुख और सन्तोष की चिन्ता रखते थे। यही सब कारण है कि उस समय के उपकारी राजाओ की कीर्ति-कथाएँ आज तक हमारे समाज में गाई जाती हैं, जब कि वर्तमान

राजाओं का नाम भी बहुत कम लोग जानते हैं।

प्राचीनकाल में इसी हमारे देश में जानश्रुति नाम का एक ऐसा ही राजा रहता था। वह इतना दयालु और दानी था कि प्रतिदिन सवेरे से लेकर दोपहर तक याचकों को मनमानी दान करता था। उसके राज्य भर में सैकड़ों ऐसे सदाव्रत चलते थे, जिनमें रात-दिन गरीब लोग आ कर भोजन करते थे। नगर-नगर, गाँव-गाँव में गरीबों के खाने पीने का प्रबन्ध तो था ही, पढने लिखने के लिए मुफ्त की पाठशालाएँ थीं, जिनमें बड़े-बडे विद्वान् पण्डित लोग पढाते थे। दवा का प्रबन्ध भी राज्य की ओर से प्रत्येक गाँव मे मुफ्त होता था। कर के रूप में प्रजा से उतना ही धन लिया जाता था, जितना वह अपनी खुशी से दे देती थी। इसी का यह परिणाम था कि उसके राज्य में न कोई गरीब था न कोई दुःखी। दूर-दूर से ऋषि-मुनि लोग आ-आकर राजा जानश्रुति को ऊँची विद्या का उपदेश करते थे और वह उनकी अपने हाथों से खूब सेवा करता था। राजधानी में सैकडों नौकर-चाकरों के रहने पर भी वह अपने अतिथियों का सारा प्रबन्ध भरसक स्वय करता था और उनकी प्रत्येक जरूरतों को पूरी करता था।

सब कुछ होने पर भी राजा जानश्रुति को किसी बात का तनिक भी घमण्ड नहीं था। जब लोग उसकी बड़ाई करते थे तो वह वहाँ से उठ कर किसी काम के बहाने से चल देता था। राजा के समान ही विनयशील, सदाचारी और धर्मात्मा उसके पुत्र भी थे। रानी तो साक्षात् लक्ष्मी थी, उसे अपने इस बडे भाग्य पर कभी तनिक भी गुमान नहीं होता था। राजमहल में छोटी नौकरानियों से लेकर अपनी सखियों तक उसका एक समान व्यवहार होता था। वह छोटे बड़े सब से इस ढङ्ग से मीठी-मीठी बातें करती मानो सब के सुख दुःख मे उसकी पूरी सहानुभूति है। राजा जानश्रुति इस प्रकार मृत्युलोक में भी स्वर्ग का सुख भोग रहा था, उसे अपने जीवन में कभी किसी बात का खटका नहीं लगा। मन्त्री, सेनापति, सिपाही, राजदूत, सभी उसका

देवता के समान सच्चे हृदय से इज्जत करते और राज्य की उन्नति मे तन-मन से लगे रहते।

एक दिन सन्ध्या के समय राजा अपने महल की छत पर उठँग कर कोई पुस्तक पढ रहा था। पढते-पढते वह किसी बात के विचार मे लग गया और पुस्तक बन्द कर शिर को ऊपर की ओर करके कुछ सोचने लगा। इसी बीच आकाश मे उडते हुए हसों की मानव बोली उसे सुनाई पडी। राजा ने सुना कि एक छोटी कतार मे उडने वाले हंसों मे सब से पिछला हंस अगले को सम्बोधित कर के कह रहा है कि—'भाई भल्लाच्च! नीचे देख रहे हो। राजा जानश्रुनि का तेज सूर्य नारायण के तेज के समान हमारी आँखों को चकाचौध कर रहा है। कही भूल से उसके समीप होकर मत उडना नहीं तो भस्म हो जाओगे। मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा है मानो सूर्य नारायण ही उगे हुए हैं। अपने जीवन मे किसी मनुष्य का तेज मैंने इस तरह जलते हुए कभी नहीं देखा है।'

अगला हस भल्लाच्च कह रहा है—'भाई! क्यो न हो। राजा जानश्रुति के समान दानी, परोपकारी तथा दयालु दूसरा राजा इस पृथ्वी तल पर कौन है? उसका यह तेज उसके अमित दान,यज्ञ एवं अतिथि-सत्कार का महान् फल है। पर मुझे लग रहा है कि तुमने उन गाडी खींचने वाले महात्मा रैक्व को अभी तक नहीं देखा है। जहाँ तक तेज के जलने की बात है राजा उन महात्मा से अभी बहुत पीछे है। इसके तेज को तुम देख भी रहे हो, पर रैक्व की ओर भर आँख ताकते ही तुम घडी भर तक आँख भी नही खोल सकते। मुझे तो उनका तेज सूर्य नारायण से भी अधिक मालूम पडता है।'

यह बाते करते हुए हसो की कतार कुछ दूर चली गई, पर अभी तक उसकी आवाज राजा के कानो मे आ रही थी। पिछला हस फिर पूछ रहा है—'भाई भल्लाच्च! मैने सचमुच उन गाडीवाले महात्मा रैक्व को अभी तक नही देखा है। मुझे बतलाओ कि वह किस तरह इतने

तेजस्वी हो गए हैं। क्या राजा जानश्रुति मे बढ कर वह दानी और धर्मात्मा हैं? मै तो नहीं समझ सका कि वह किस तरह राजा के समान दान, यज्ञ और पुण्य कर सकते हैं। क्या इनसे बडा राज्य उनका है?'

भल्लाक्ष कह रहा है—'भाई! राजा जानश्रुति के समान उनका राज्य नहीं है, वह तो एक गाडी खींचते फिरते हैं, दान यज्ञ करने का साधन उनके पास कहाँ है? पर कुछ ऐसी चीजे उनके पास हैं जो राजा जानश्रुति के पास नहीं हैं। वह इतने महान् ज्ञानी और त्यागी महात्मा हैं कि सारा त्रैलोक्य उनका ही है। वह इतने वीतराग और निर्लिप्त हैं कि सारे मानव समाज के उपकारी पुण्य कर्मो का श्रेय अकेले उन्हीं को मिल सकता है, क्योंकि उनके त्याग के भीतर सब कुछ आ जाता है।'

इसके उत्तर में पिछले हस ने कहा—'भाई भल्लाक्ष! यह बात हमारी समझ के बाहर है कि सारे मानव समाज के समस्त उपकारी पुण्य कर्मों का श्रेय उन महात्मा रैक्व को अकेले मिल जाता है? काम करे कोई और श्रेय मिले किसी दूसरे को, यह किस तरह से सभव हो सकता है? अगर ऐसा हो तो ससार मे लोग पुण्य कर्मो का करना ही छोड दें।'

भल्लाक्ष बहुत दूर तक उड गया था, पर राजा कान लगा कर उसकी आवाज सुनता रहा। वह कह रहा था—'भाई! इस विषय मे तुम्हे एक दृष्टान्त बतलाता हूँ। जैसे जुआ खेलने के पासे के निचले तीनों भाग उसी के अन्तर्गत हो जाते हैं, यानी जब जुआरी का पासा दाँव पर पडता है तब वह तीनों को जीत लेता है, इसी प्रकार इस समय प्रजा जो कुछ भी शुभ कार्य करती है, उन सब का सुफल महात्मा रैक्व के शुभ फलों के अन्तर्गत हो जाता है। प्रजाओं के समस्त शुभ कर्मों का फल उन्हे इसलिए भी मिलता है कि उनका निजी जीवन या शरीर भी अपने लिए नहीं है, समाज के हित के लिए है। ऐसी दशा मे समाज का शुभ फल उन्हे क्यो न मिले? उन

महात्मा रैक्व के समान संसार की वस्तुओं के वास्तविक तथ्यों को जो जान लेता है वह भी उन्हीं के समान पूज्य बन जाता है। राजा जानश्रुति की पहुँच अभी उतनी नहीं है वह ...।'

हंसों की कतार उड़ती हुई बहुत दूर चली गई और अब उनकी आवाज का सुनाई पडना एकदम बन्द हो गया। इधर राजा जानश्रुति के कानों में पडकर हंसों की यह बातें हृदय में खलबली पैदा करने लगीं। वह यह जानने के लिए उत्सुक हो गया कि वह महात्मा रैक्व कौन हैं?

रात भर अपने महल की छत पर वह तारे गिनता रहा, ठीक से नींद नहीं लगी। बार बार उसके दिमाग में यही विचार चक्कर काटता रहा कि मेरे किए गए पुण्य कर्मों का श्रेय मुझे न मिलकर महात्मा रैक्व को क्यों मिलेगा? क्या वह इतने महात्मा हैं कि मेरे किए गए यज्ञ, दान तथा अन्य कर्मों मे बढ़कर पुण्य करते हैं? उन्हें देखना चाहिए। पृथ्वी तल पर तो ऐसा कोई महात्मा नहीं बचा है, जो मेरी दी गई सुविधाओं से लाभान्वित न हुआ हो, तो यह रैक्व कहाँ रहे जो अब तक मैं इनका नाम तक नही सुन सका! यह भी हो सकता है कि हंसों को मेरे किए गए पुण्य कर्मों का पूरा-पूरा पता न हो और झूठ मूठ मे ही रैक्व की प्रशंसा करते फिरते हों। पर नहीं। हंसों का रैक्व से क्या स्वार्थ सधता होगा। वह निःस्वार्थ किसी की प्रशंसा क्यों करेंगे? अवश्य ही महात्मा रैक्व के गुण प्रशंसनीय होंगे। मुझे उनका दर्शन तो जरूर करना चाहिए।'

रात भर इस प्रकार उधेड़-बुन मे पडे हुए राजा जानश्रुति को जीवन मे पहली बार चिन्ता का सामना करना पड़ा। अब तक कभी स्वप्न मे भी उसे इस प्रकार का खयाल नहीं आया था कि मेरे किए गए पुण्य कर्मों का श्रेय कोई दूसरा ही हडप लेगा।

सवेरा हुआ। प्रातःकाल के नित्य कर्मों से निवृत्त होकर राजा ने अपने सारथी को बुलवाया और एकान्त मे उससे कहा—'सारथी!

क्या तुमने महात्मा रैक्व का नाम सुना है ? वह शायद एक गाडी लिए हुए घूमते फिरते हैं। मैने भी उनका नाम अभी कल सुना है, पर उनकी इतनी प्रशसा मैने सुनी है कि मन मे उन्हें देखने की बडी उत्कण्ठा जाग पडी है। तुम रथ लेकर जाओ और पता लगा कर मुझे शीघ्र बतलाओ। यदि रथ पर आने को वह राजी हों तो साथ ही लिवाते भी आओ। मगर खयाल रखना, यदि वह न आना चाहें तो जिद भी मत करना। सुनते हैं, उनके समान पुण्यात्मा और तेजस्वी इस ससार मे कोई दूसरा पुरुष नहीं है।'

सारथी ने हाथ जोड़ कर कहा—'महाराज ! आप ने चाहे जो सुना हो। किन्तु इस ससार में आप से बढकर भी काई पुण्यात्मा या तेजस्वी हो सकता है, यह केवल कल्पना की बात है। यह आपकी सरलता है कि आप किसी महात्मा का नाम सुनकर उसके दर्शन के लिए इतने उत्कण्ठित हो जाते हैं। इस ससार मे कौन ऐसा मनुष्य है जो आप के दान के प्रभाव को न जानता हो।'

राजा जानश्रुति को सारथी की बातें बहुत पसन्द नही आईं। शिर हिलाते हुए बोला—'सारथी ! तुम नहीं जानते। उन महात्मा रैक्व का ऐसा प्रभाव मैने सुना है कि ससार मे जो कुछ भी पुण्य कर्म किया जाता है उन सब का श्रेय उन्ही को प्राप्त होता है। वह इतने वीतराग और निर्लिप्त महात्मा हैं कि उन्हे अपने शरीर का मोह भी नहीं है। मैं ऐसा त्यागी तो नहीं हो सका हूँ। यही कारण है कि मै उनके पवित्र दर्शन का इतना भूखा हूँ। तुम जाओ और यदि जरूरी समझो तो अपनी सहायता के लिए बन्दियों और मागधों को भी साथ लिवाते जाओ। क्योंकि उन्हें देश का सब हाल मालूम रहता है।'

सारथी चुप हो गया। थोडी देर बाद हाथ जोड कर फिर बोला—'महाराज ! आप की आज्ञा है तो मैं उन्हें जहाँ भी पाऊँगा, साथ लिवा कर आऊँगा। मुझे वन्दिओ और मागधों की आवश्यकता नहीं है। महाराज की कृपा से मुझे सातो द्वीपों में ऐसा कोई नगर वा

उपनगर नहीं है, जिसकी जानकारी न हो। मै उन्हें बहुत शीघ्र लिवा लाऊँगा।'

राजा के चरणों पर शीश झुका कर सारथी अपने घर आया और रथ को सुसज्जित कर के देश भर मे घूमने लगा। फिर तो नगर नगर घूम कर उसने देश भर की मुख्य-मुख्य सडकों से उपनगरों का भी पता लगाया, गली कूचों म भी छान बीन करवायी, बडे बड़े महलों मन्दिरों और शिवालयों मे भी पता लगवाया, घरों और झोपडों तक की जानकारी हासिल की, पर कही किसी ने उन गाडीवाले महात्मा रैक्व का पता न बताया। वह बहुत परेशान रहा पर कहीं कोई पता नहीं लग सका। फिर तो निराश होकर वह राजधानी को वापस आया और राजा जानश्रुति के सामने हाथ जोड कर बोला—'महाराज! मुझे तो सारे पृथ्वी तल पर उन महात्मा रैक्व का कहीं पता भी नहीं लगा। मैने उनके लिए देश भर के नगरों, गावों, मन्दिरों और झोपडों तक को छान डाला, पर किसी ने उनका नाम भी नही बतलाया। मै तो समझता हूँ कि यह सब झूठी बात है। इतने बड़े महात्मा का नाम भी लोग न जानते हो, यह आश्चर्य है।'

राजा जानश्रुति ने उदास होकर कहा—'सारथी! मै मानता हूँ कि तुमने महात्मा के ढूँढने मे बहुत परिश्रम किया है, पर तुमने मेरी समझ से ठीक काम नहीं किया। रैक्व के समान वीतराग और निःस्पृह महात्मा ऐसी जगहों मे क्यों रहने लगे, जहाँ भीड-भाड का अंदेशा हो। वह कही एकान्त मे पडे होंगे। पर्वतों की गुफा या नदी के सुन्दर तट पर ही उनका निवास हो सकता है। तुम जाओ, और एक बार फिर उनके ढूँढने मे परिश्रम करो, मैं चाहता हूँ कि इस बार तुम अपनी सहायता के लिए बन्दियों तथा मागधों को भी साथ लिवाते जाओ।'

सारथी ने हाथ जोड कर कहा—'महाराज! आपकी आज्ञा से मै फिर उन महात्मा को खोजने जा रहा हूँ। मुझे किसी भीड भाड की

जरूरत नहीं है, मैं अकेले ही उनका पता लगा सकता हूँ।'

राजा को शिर झुका कर सारथी अबकी बार अकेले ही महात्मा रैक्व को ढूँढने के लिए राजधानी से बाहर निकला। रथ को पर्वत की गुफाओं मे या नदियों के तट पर या जगलों मे साथ ले जाना कठिन समझ कर उसने राजधानी मे ही छोड दिया। सयोग की बात। इस बार जैसे ही वह राजधानी के उत्तर तरफ जगल वाले मार्ग से जा रहा था कि बीच मार्ग में खडी हुई एक गाडी दिखाई पडी, जिसमे न तो बैल थे और न कोई सामान ही रखा हुआ था। गाडी के समीप पहुँच कर सारथी ने देखा कि उसके नीचे एक परम तेजस्वी महात्मा बैठे हुए अपने पेट को खुजला रहे हैं। उनके तेजस्वी ललाट मे तेज की किरणे फूट-सी रही हैं। उनके सुन्दर स्वस्थ शरीर पर न तो ठीक से कोई वस्त्र है न कोई सजावट। दाढी के बाल बे-तरतीब बढे हुए हैं, शिर पर भूरे-भूरे बालों की जटा लता की एक वल्लरी से बाँध दी गई है, पर मुखमण्डल से बादलों मे अधखुले चन्द्रमा के समान प्रकाश की किरणे-सी हँस रही हैं। सारथी ने झाँक कर देखा तो उसे यह निश्चय हो गया कि गाडी वाले महात्मा रैक्व यही हैं। दूर से ही निश्चय बनाकर सारथी उनके पास गाडी के नीचे पहुँचा और नम्रतापूर्वक प्रणाम करते हुए दोनों चरणों को छू कर शिर पर लगाया। महात्मा रैक्व का ध्यान सारथी के इस व्यापार से जब तनिक भी विचलित नहीं हुआ तब अपनी ओर ध्यान खींचने के इरादे से उसने विनीत स्वर में कहा—'महाराज! क्या मैं यह मान लूँ कि गाड़ी वाले महात्मा रैक्व आप ही हैं? आपको ढूँढने के लिए मैं कितने दिनो से परशान हूँ।'

सारथी की विनीत वाणी से रैक्व ने अपनी तेजस्वी आँखे इधर फेर दीं, और कहा—'हाँ, रैक्व मेरा ही नाम है।' इतना कह कर वह फिर पहले की तरह अपना पेट खुजलाते हुए दूसरी ओर ताकने लगे।

रैक्व की तेजस्वी आँखों की ओर देख कर सारथी की यह हिम्मत छूट गई कि वह उनसे कुछ और बातचीत आगे बढ़ाये। आज तक

उसे इस प्रकार के तेज से जलते हुए मुख मण्डल को देखने का मौका नही लगा था। यही नहीं, उसने इस तरह के विचित्र आदमी की कल्पना भी नही की थी, जो पूरी बात का उत्तर दिए बिना दूसरी ओर ताकने लगे। कम से कम एक विख्यात राजा के सारथी होने के नाते उसने मनुष्य स्वभाव का जो अनुभव प्राप्त किया था, उसके हिसाब से महात्मा रैक्व उसे एक विचित्र आदमी मे दिखाई पड़े। उसकी नजर मे अगर वह एक महात्मा-से दिखाई पड़े तो एक पागल से कम भी नहीं थे। ससार से इस तरह निरपेक्ष रह कर कोई कैसे जी सकता है, यह टेढ़ी बात उस दानी राजा के बुद्धिमान् मत्री के मन मे नहीं बैठी। वह थोडी देर तक चुप रहा, फिर देखा कि जब महात्मा अब उससे कुछ भी बोलना पसन्द नही कर रहे हैं तो पैरों को छू कर वह गाडी के नीचे से बाहर चला आया और एक विचित्र खुशी मे राजधानी के मार्ग पर चल पड़ा।

महात्मा रैक्व के मिलने का समाचार सारथी द्वारा सुन कर राजा जानश्रुति को अपार खुशी हुई। अब वह उनके दर्शन की विधिवत् तैयारी मे लगे। शुभ मुहूर्त मे अपने साथ छः सौ बिआई हुई गौएँ, एक बहुमूल्य सोने का हार, जिसमे बीच-बीच मे हीरे-मोती गुँथे हुए थे, एक सुन्दर रथ, जिसमे बहुत बलवान घोडे जुते हुए थे, लेकर महात्मा रैक्व के पास पहुँचे। उस समय भी महात्मा रैक्व उसी गाडी के नीचे बैठ कर अपने पेट मे हुई खाज को खुजला रहे थे। राजा ने रैक्व के पास जाकर आदर सहित प्रणाम करते हुए दोनों चरणों को छुआ और फिर थोडी देर तक चुप रह कर विनीत स्वर से हाथ जोड कर सुवर्ण की माला को दिखाते हुए कहा—'महात्मन्! मैं राजा जनश्रुति का पौत्र जानश्रुति हूँ। आपकी सेवा मे मै सामने खडी हुई छः सौ ब्याई गौएँ, एक सुन्दर रथ तथा यह माला समर्पित करना चाहता हूँ। मेरे राज्य मे इतने दिन रहते हो गए कभी आपने राजधानी को पवित्र करने की कृपा नही की, नहीं तो इस तरह टूटी

फूटी गाड़ी को खींचने की आपको क्या जरूरत थी? मेरे राज्य भर मे कोई भी महात्मा आप की तरह कठिनाई का जीवन नहीं बिताता। क्षमा कीजिएगा, मुझे आपका पता बिल्कुल ही नहीं था, नहीं तो इतने कष्ट आपको कदापि न सहन करने पडते। हे महाराज! मेरी इस भेंट को कृपा कर स्वीकार कीजिए और आप जिस देवता की उपासना मे लगे हुए हैं, उसका उपदेश मुझे भी कीजिए। मैं भी आपका एक छोटा-सा दास हूँ।'

राजा की ओर कुछ क्रुद्ध नेत्रों से आग उगलते हुए के समान महात्मा रैक्व ने गम्भीर स्वर मे कहा—'शूद्र! यह गौएँ, यह रथ और यह हार तू अपने ही पास रख। मुझे इनकी बिल्कुल जरूरत नहीं है। मेरे लिए तो अपनी यह टूटी-फूटी गाडी ही बहुत है।'

रैक्व की क्रुद्ध बातें सुन कर दयालु राजा जानश्रुति ने सोचा कि कदाचित् दक्षिणा मे बहुत कमी देख कर ही महात्मा ने मुझे शूद्र कहा है। या तो हसों की बात सुन कर मै उनसे दिल मे ईर्ष्या करने लगा हूँ, इसलिए शूद्र कहा है। थोड़े धन पर कहीं उत्तम विद्या की प्राप्ति हो सकती है? सम्भवतः इसी बात पर कि यह थोड़े धन से हमारी परम विद्या जानना चाहता है महात्मा ने मुझे फटकारा है और मेरी बातो का कोई उत्तर भी नहीं दिया है।'

उधर महात्मा रैक्व जानश्रुति से उक्त बातें कहने के बाद फिर अपना मुख दूसरी ओर घुमा कर बैठ गए और कुछ सोचते हुए पेट की खाज खुजलाने लगे। राजा जानश्रुति को फिर से उन्हें छेडने की हिम्मत नहीं हुई। वह चुपचाप गाडी के नीचे से उठ कर बाहर चले आये और नौकरों को सब सामान वापस ले चलने की आज्ञा देकर सारथी के साथ रथ पर सवार होकर राजधानी की ओर चल पडे। रास्ते मे उसे महात्मा रैक्व की बातें रह-रह कर तग करने लगीं। लाखों बातें सोचने पर भी वह यह नहीं जान सका कि 'शूद्र' की नई उपाधि उसे आज क्यों मिली है? जिसे सारा ससार आँख की

पलकों मे रखना चाहता है, पशु-पक्षी तक जिसके यश की बातें कहते फिरते हैं, उसे 'शूद्र' कहने वाला महात्मा है या कोई पागल। सारथी तो रैक्व की बातो से इतना दुःखी हो गया था कि सारे मार्ग में राजा मे कुछ बात-चीत छेड़ने की उसकी हिम्मत ही छूट गई।

सायंकाल राजधानी मे पहुँच कर राजा जानश्रुति ने वह रात बडी बेचैनी से बिताई। दूसरे दिन प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर उसने विचार किया कि बिना ज्ञान के अब मेरा शोक दूर नहीं हो सकता। ससार में जितने भी विद्वान् या महात्मा हैं, सब मेरी प्रशसा करते हैं, केवल रैक्व ही शूद्र रूप मे जानते हैं। निश्चय ही वह सब से बड़े महात्मा हैं, क्योंकि शूद्र के सिवा किसके मन मे ईर्ष्या, द्वेष और शोक रह सकता है। इसलिए उन्हें जिस तरह से भी हो सके, प्रसन्न करके सच्चे ज्ञान की प्राप्ति करना ही अब मेरा धर्म है। मुझे उन महात्मा की कृपा अवश्य मिलनी चाहिए। उनके बिना मेरे इस शोक को दूर करने की शक्ति किसी दूसरे मे नहीं है।

मन मे इस तरह का निश्चय पक्का करके राजा जानश्रुति इस बार अपने साथ एक हजार ब्याई हुई गौएँ, सोने का दूसरा बहुमूल्य हार, दूसरा सुन्दर रथ तथा अपनी इकलौती कन्या लेकर महात्मा रैक्व की सेवा मे उपस्थित हुआ। और सब कुछ चरणों मे निवेदन करते हुए विनीत स्वर मे बोला—'भगवन्! यह सब सामग्री मै आप को भेंट देने के लिए लाया हूँ। इनको आप स्वीकार कीजिए। मेरी यह कन्या आप की धर्मपत्नी बन कर रहेगी। जहाँ पर आप बैठे हुए हैं, वह प्रदेश तथा उसके आस-पास के बीस गाँव भी मै आप ही को अर्पण करता हूँ। आप मेरी तुच्छ भेंट को सप्रेम अगीकार कीजिए और मुझे उस देव की उपासना का तत्त्व बतलाइये, जिसकी आराधना मे इस तरह ससार से विरक्त होकर लगे हैं। मेरी दृष्टि मे ससार मे आप से बढ कर महात्मा कोई दूसरा नही है इसीलिए जिन वस्तुओं को मैं सब से अधिक कीमती तथा प्रिय समझता था, उन्हीं से आप की सेवा कर रहा हूँ। मै खाली हाथों से

आप की सेवा करना नहीं चाहता।'

राजा की इस लम्बी बातचीत को सुनकर रैक्व ने अपनी सहज चितवन से सामने खड़ी हुई राजा की गायों, हार, रथ और उसकी परम सुन्दरी कन्या पर उड़ती हुई दृष्टि डाली और कुछ रूखे स्वर में कहा—'शूद्र! तू खाली हाथों से नहीं खाली हृदय और पाप भरे मन से उपदेश ग्रहण करने आया है। तू मेरे ज्ञान की कीमत आँकने चला है। जिस वस्तु को एक बार मैं ठुकरा चुका उसको कम समझकर उससे अधिक के द्वारा तू हमारे उपदेश को खरीदना चाहता है। जिस ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति तू करना चाहता है वह संसार के साम्राज्य से भी लाखों गुना कीमती है। तेरी यह मृतक गाएँ, टूटनेवाला रथ, नष्ट होने वाला हार, और मरणधर्मा कन्या उसकी एक मात्रा की भी कीमत नहीं चुका सकते। भला बतलाओ तो सही कि इन विनाश होने वाली वस्तुओं के बदले में ब्रह्म के शाश्वत ज्ञान का उपदेश तुझे किस प्रकार मिल सकता है? तेरे समान दानशील और उपकारी राजा को तो मैं इतना मूर्ख नहीं समझता था। तू तो पूरा पशु निकला। तुम्हारी जगह पर यदि कोई दूसरा राजा होता तो मैं उसे शाप देकर भस्म कर देता। पर मुझे मालूम है कि तू हृदय से पापी नहीं है।'

रैक्व की मृदंग के समान गम्भीर स्वर में गूँजनेवाली उक्त बातों को सुनकर और सात्त्विक क्रोध से प्रदीप्त उनके मुख मण्डल को देख कर राजा जानश्रुति विचलित हो गए। उनका धैर्य छूट गया। भय के कारण उनके ललाट पर पसीने की धारा फूट पड़ी। कण्ठ सूख गया और आगे बोलने की हिम्मत छूट गई। जीवन में इस अनहोनी घटना का उन्हें स्वप्न में भी कभी भान नहीं हुआ था। महत्त्व के ऊँचे शिखर पर से गिर कर वह पाताल के गर्त में डूबने लगे। अन्त में निरुपाय हो कर वह महात्मा रैक्व के चरणों पर गिर पड़े और गिड़गिड़ाते हुए बोले—'भगवन्! आप सर्वान्तर्यामी हैं। इस चराचर संसार में कोई भी वस्तु आप से छिपी नहीं है। किसी पाप-भावना से

प्रेरित होकर मैं ने यह अपराध नहीं किया है। मुझे हृदय से क्षमा कीजिए और जिस उपाय से मेरा मानसिक शोक दूर हो, मेरी अविद्या का काला परदा सदा के लिए नष्ट हो जाय, वह उपाय कीजिए। मैं अब तक कितने अज्ञान मे था, इसे आज ही जान सका हूँ।'

राजा को विनीत और करुणा मे भरी वाणी को सुनकर महात्मा रैक्व के ज्ञान-विदग्ध हृदय में दया का अंकुर फूट पड़ा। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद वह बोले—'राजन्! जो कुछ मैं जानता हूँ, या जिस देवता की उपासना मे मैं लीन रहता हूँ, यदि उन सब बातों को तू जानना चाहता है तो इन गायों के साथ रथ और हार को राजधानी में वापस कर दे। केवल तुम्हारी सुन्दरी कन्या का वरण मैं करूँगा। इन तुच्छ और नश्वर वस्तुओं के दाम पर तू उसे नहीं खरीद सकता। उसके लिए तो तुझे अपना सर्वस्व अर्पण करना पड़ेगा। जब तक तू अपने को खुद नहीं अर्पण कर देता तब तक तेरा अज्ञान नहीं मिट सकता। अपने आप को अलग करके तथा पराई वस्तुओ पर अपना अधिकार समझ कर के जब तक दान का पाखण्ड तू करता रहेगा तब तक तुम्हारे हृदय से अज्ञान की कालिमा दूर नहीं होगी और उस काले पंकिल हृदय से ज्ञान का अंकुर नही फूट सकेगा। मनुष्य के हृदय से जब तक अपने धन, अपने अधिकार और अपनी लालसाओं की सूक्ष्म भावना दूर नही हो जाती तब तक वह सच्चे ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी नही होता। उस काले पापी हृदय मे भगवान् का निवास नहीं हो सकता, क्योकि तुम तो जानते हो कि वह क्षीरसागर अर्थात् दूध के समुद्र मे निवास करने वाले हैं। जब तक मनुष्य का शुद्ध हृदय दूध के समान निर्मल नहीं हो जाता तब तक उस क्षीर समुद्र शायी भगवान् का निवास क्यों कर हो सकता है? राजन्! जो लोग अपने आप को बचाकर तेरी तरह केवल अपने अधिकारों का समर्पण करते रहते हैं वे भगवान् के पाने का स्वप्न बेकार मे देखते हैं।'

महात्मा रैक्व की ज्ञान से भरी उक्त बातें सुनकर राजा जानश्रुति

भीतरी नेत्र खुल गए, वह फिर से उनके चरणों पर गिर पड़े और
ी देर तक अपने अज्ञानमय जीवन की बातें सोच-सोचकर आँसू
ाते रहे।

फिर थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद उन्होंने सारथी को गौएँ, रथ
ौर हार कन्या को राजधानी पहुँचाने का इशारा देकर महात्मा रैक्व
हाथ जोडकर कहा—'भगवन्! मैं कितने अज्ञान में था। मेरे
ीवन के कितने अमूल्य दिन यूँ ही बेकार मे बीत गए। मैं जिसे
वर्ण समझता था वह एक दम मिट्टी से भी बेकार ठहरा। आज मेरे
ग्य के सच्चे दिन उदय हुए हैं। मैं आज से आप की शिष्यता
गीकार कर रहा हूँ।' महात्मा रैक्व ने जानश्रुति को ब्रह्मज्ञान का
च्चा अधिकारी समझा और उसे विधिवत् ब्रह्म ज्ञान का उपदेश
िया। ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर दयालु और परमार्थी राजा जानश्रुति
ा तेज सचमुच बहुत बढ गया वह जीवन्मुक्त हो गया और उसके
ानसिक शोक सदा के लिए दूर हो गए। ब्रह्मज्ञान से निर्मल एवं
वच्छ उसके हृदय मे भगवान् का निवास हो गया।

× ×

राजा जानश्रुति की परम सुन्दरी, लज्जावनतमुखी कन्या महात्मा
ैक्व के साथ व्याह दी गई। जिस सौभाग्यशाली प्रदेश मे महात्मा रैक्व
ने राजा जानश्रुति को ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया था और राजपुत्री
के साथ पाणिग्रहण सस्कार किया था वह बहुत दिनों तक रैक्वपर्ण
के नाम से विख्यात रहा।[1]

---

[1] छान्दोग्य उपनिषद् से

# उपकोसल की सफलता

[ ६ ]

जबाला के पुत्र जाबाल का दूसरा नाम सत्यकाम था। अक्सर लोग उन्हे इसी नाम से अधिक जानते थे। सत्यकाम की विद्वत्ता और निःस्पृहता की चर्चा उस समय के सभी आचार्यों मे अधिक होती थी। उसका मुख्य कारण यह था कि सत्यकाम अपने विद्यार्थियों की विद्या पर उतना अधिक ख्याल नहीं करते थे जितना उनके चरित्रवान् बनने पर। वह पहले अपने विद्यार्थियों को सच्चरित्र बनने की शिक्षा देते थे और जब जान लेते थे कि विद्यार्थी अपने चरित्र को पूरा-पूरा सँभाल चुका है तब उसे ब्रह्मविद्या की शिक्षा देते थे। इसका फल यह होता था कि उनके योग्य और चरित्रवान् विद्यार्थियों की देश के कोने-कोने मे प्रशंसा की जाती थी, जब कि दूसरे आचार्य के विद्यार्थी उतने सफल विद्वान् भी नहीं होते थे। उस समय के समाज मे सत्यकाम के योग्य और विद्वान् शिष्यों ने एक ऐसी धारा बहा दी थी कि देश के ओर-छोर से सभी अपने पुत्र को सत्यकाम की देख-रेख मे पढ़ने के लिए भेजने लगे।

सत्यकाम की शिक्षा गुरुकुल मे प्रवेश करते ही शुरू नहीं होती

थी। विद्यार्थी अपनी सत्यनिष्ठा, सेवा-भावना, सहिष्णुता, धीरता तथा शारीरिक स्वास्थ्य की जब पूरी-पूरी योग्यता प्राप्त कर लेता था, तब उसे दो तीन वर्ष के बाद शास्त्रीय विद्या का श्रीगणेश कराया जाता था। एक बार की चर्चा है कि जाबाल के यहाँ विप्रवर कमल का पुत्र उपकोशल विद्याध्ययन के लिए आया। वह प्रकृति का बडा कुन्द था। जो कुछ बाते उसे बताई जातीं जल्दी मे ग्रहण नहीं करता था। साथी लोग सदा उसका मजाक बनाए रहते थे पर वह कुछ भी खयाल नही करता था। अक्सर ऐसा होता था कि दो-तीन या अधिक से अधिक चार साल के बाद विद्यार्थियों को विद्याध्ययन का प्रारम्भ करा दिया जाता था, पर उपकोसल मे पाँच-छः साल के बाद भी वह योग्यता नही आ सकी कि सत्यकाम उसे विद्याध्ययन के आरम्भ करने की अनुमति देते। देखते-देखते उपकोसल के साथ आने वाले कितने साथी अन्तिम दीक्षा लेकर गुरुकुल से विदा होकर भी चले गए पर उपकोसल अभी तक जैसा का तैसा ही बना रहा।

सत्यकाम ने पहले चार-पाँच साल तक तो उसे केवल आश्रम की गौओं को चराने का काम सौंप रखा था, पर उसके बाद भी जब उसका कुछ सुधार नहीं हुआ तो इस खयाल से कि आश्रम मे दिन-रात के रहने से साथियो की देखा-देखी उसमे भी कुछ जागृति आएगी, आश्रम की अग्नियों की सेवा का भार उसे सौपा। रात-दिन साथियों के ससर्ग से उपकोसल की आँखें सचमुच खुल गई। उसने यह सोचा कि मेरे कितने साथी गुरुकुल मे विद्याध्ययन समाप्त कर चले गए पर मैं अभी तक कुछ नहीं कर सका। पता नहीं, गुरु जी मेरे ऊपर क्यों अप्रसन्न हैं जो अभी तक शास्त्रीय विद्या के आरम्भ करने की अनुमति भी नहीं दे रहे हैं। सारे गुरुकुल मे मेरे जितना सयाना कोई विद्यार्थी नहीं है, सभी साथी मेरा मजाक बनाते हैं पर पता नहीं गुरु जी मेरे ऊपर कुछ भी खयाल नहीं कर रहे हैं। इस तरह वह भीतर ही भीतर घुलने लगा पर गुरु से कुछ स्पष्ट रूप मे कहने की हिम्मत उसे नहीं

पड़ी। इधर तन-मन से अग्नियों की सेवा में वह लग गया और गुरु तथा गुरु-पत्नी के आदेश की प्रतिक्षण प्रतीक्षा करने लगा।

सत्यकाम पत्थर के तो थे नहीं। उपकोसल की सच्ची सेवा से वह मन ही मन प्रसन्न होने लगे पर कठिनाई इसलिए थी कि अभी तक उसमें धीरता नाम मात्र के लिए भी नहीं आ सकी थी और अधीर को विद्या दान करना सत्यकाम के नियमों से विरुद्ध पड़ता था।

×　　×

उपकोसल के मन की व्यथा उस दिन बहुत बढ़ गई जिस दिन उसके साथ अग्नियों की उपासना करने वाले साथियों का समावर्तन संस्कार हो रहा था। एक ओर सारे गुरुकुल में आनन्द की लहरें लहरा रही थीं, पर अभागे उपकोसल का मन अधीर हो उठा था। उसे अपने बाल-साथियों का संग छूटने का उतना ही दुःख था जितना पिछले नये साथियों के साथ काम करने का। उस दिन सवेरे से ही वह अग्निकुण्ड के समीप कोने में बैठा ही रह गया। बाहर विशाल मण्डप में दीक्षान्त समारोह मनाया जा रहा था पर उपकोसल के सामने यज्ञकुण्ड की अग्नि जल रही थी और हृदय में ईर्ष्याग्नि की लपटें उठ रही थीं। वेदों की गगनभेदी ध्वनियों के बीच उसके साथियों की मांगलिक दीक्षा समाप्त हो गई और वह गुरुपत्नी तथा साथियों से आशीर्वाद और शुभ कामनाओं को लेकर अपने-अपने घर को प्रस्थान कर चुके पर उपकोसल उसी तरह कोने में बैठा-बैठा दुःखी मन से सब कुछ देख रहा था। इतने दिनों तक साथ-साथ रहने वाले, साथ-साथ खाने-पीने वाले, एक दूसरे की विपत्ति-सम्पत्ति में साथ देने वाले साथियों ने चिरकाल बाद घर जाने की उत्सुकता में उसकी खोज भी नहीं की, यह देखकर उसका आहत हृदय अमर्ष से एकदम भर गया। उसकी आँखों से विवशता के कारण आँसू की धारा बह निकली और वह अपने अभाग्य के ऊपर झल्ला उठा।

इसी दुःखमय स्थिति में बैठे हुए उपकोसल को सायकाल

समीप आ गया, पर उस कोने से उठ कर बाहर आने की उसकी हिम्मत नहीं हुई। आखिरकार गुरुपत्नी की जरूरतों मे उसकी खोज शुरू हुई। प्रतिदिन सायकाल के समय वह इन्धन लाकर अग्निशाला के समीप रखता था और मत्रों से उनका अभिसिंचन करके यज्ञकुण्ड मे आहुति करता था, पर आज न तो शाला के समीप इन्धन का कोई जुटाने वाला है, न मत्रों से अभिसिंचन करने का स्वर ही सुनाई पड रहा है। गुरुपत्नी की आज्ञा से नये शिष्यों ने वन्य प्रान्त की ओर का सारा मार्ग ढूँढ़ डाला पर कही उपकोसल का पता नहीं लग सका। गुरु पत्नी को चिन्ताएँ बढ गई, वह सोचने लगीं कहीं अपने पुराने साथियों के मोह मे फँस कर उपकोसल भी तो नहीं घर चला गया। पर वह ऐसा अबोध तो नहीं है कि जिस उद्देश्य सिद्धि के लिए बारह वर्षों की कठिन साधना की उसे अधूरी छोड कर कहीं भाग जाय। हो सकता है कि साथियों के चले जाने से कहीं उदास होकर बैठा हो। इसी उधेड़-बुन में वह यज्ञशाला मे गई और वहाँ देखा तो कोने मे दुबका हुआ उपकोसल चुपचाप आँखों से आँसुओं की धारा बहाता हुआ शिर नीचे किए हुए बैठा है। गुरुपत्नी को देख कर उसके अमर्ष का वेग बढ़ गया और वह फफक-फफक कर रोने लगा।

उपकोसल की इस दीन दशा को देखकर दयालु गुरुपत्नी की करुणा भी उमड पडी। कोने से उसे खींच कर अक मे लगाते हुए वह बोली—'मेरे प्यारे! तू इतना उदास क्यो हो रहा है, मै आज ही तेरे गुरु से तुझे विद्यारम्भ कराने की अभ्यर्थना करूँगी। तू तनिक भी उदास मत हो। देख, सायकाल आ गया, और अभी तक तेरी अग्नियों की सायपूजा नहीं हुई, न इन्धन आया और न अभिसिंचन का कुश और जल। शीघ्र जा, और अपना काम कर, तुझे इतना दुःखी तो नहीं होना चाहिए। मेरे रहते हुए तुझे किस बात का कष्ट है, जो इस तरह घर भागने के लिए ललक रहा है।'

उपकोसल चुपचाप इन्धन लेने के लिए वन्य मार्ग की ओर चला

गया। गुरुपत्नी की ममता से भरी हुई वाणी ने उसके हृदय का काँटा काढ़ दिया। वह कुछ हलका बन गया क्योंकि मन का सारा दुःख आंसुओं के रूप में बाहर निकल गया था। पुराने साथियों के घर चले जाने से उसे आज एक नवीन प्रेरणा मिली। वह सोचने लगा कि मैं अभी कितना अधीर हूँ, इतने दिनों तक आश्रम में रह कर भी किसी योग्य नहीं बन सका। अवश्य मुझ में कोई कमी है, जो गुरु जी मुझे विद्यादान का पात्र नहीं समझते। अब मुझे सच्चे तन-मन से अपने कर्त्तव्य में जुट जाना है, देखें कब उनका हृदय पसीजता है।

उपकोसल के इन्धन के लिए वन में चले जाने के थोडी ही देर बाद सत्यकाम भी आ गए। गुरुपत्नी ने उपकोसल की उद्विग्नता का समाचार सुनाते हुए कहा—'उपकोसल की दीनता से मैं आज विचलित हो गई हूँ। उसे आश्रम में रहते हुए बारह वर्ष से ऊपर हो गए। उसने श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य के नियमों का यथोचित पालन किया है और आप की यज्ञशाला की अग्नियों की भली भाँति आराधना की है। उसके पीछे आए हुए साथी दीक्षा ग्रहण कर गृहस्थ धर्म में सम्मिलित हो गए पर वह ज्यों का त्यों है। आज वह दिन भर यज्ञ कुण्ड के पास कोने में बैठ कर रोता रहा। अभी मेरे बहुत कहने सुनने पर इन्धन के लिए वन की ओर गया है। उसके समान सरल, विनीत और सेवा में निपुण शिष्य को ब्रह्मविद्या से अभी तक उपेक्षित क्यों किया गया है? मैं चाहती हूँ कि उसे भी शीघ्र ही दीक्षित कर गृहस्थ धर्म में प्रवेश करने की आज्ञा दीजिए। नहीं तो ये अग्नियाँ आपको उलाहना देंगी।'

सत्यकाम ने पत्नी की बातें अनसुनी कर दीं और बिना कुछ उत्तर दिये ही सन्ध्यावन्दन में लग गए। थोडी देर तक वह खडी रहीं पर जब देखा कि सत्यकाम प्राणायाम खींच रहे हैं तो मन मसोस कर घर के दूसरे कामों में लग गईं। उधर उपकोसल ने अग्नियों की विधिवत् आराधना की, उसे यह आशा हो गई कि गुरुपत्नी के आश्वासन

निष्फल होने वाले नहीं हैं। इधर सन्ध्यावन्दन से निवृत्त होकर सत्यकाम ने उपकोसल से बातें भी नहीं कीं और प्रतिदिन की तरह अग्न्याधान के मन्त्रों का सस्वर पाठ भी उससे नहीं कराया।

दूसरे दिन प्रातःकाल सत्यकाम लम्बी यात्रा के लिए चले गए और जाते समय पत्नी से कह गए कि जब तक मैं पुनः आश्रम में वापस नहीं आता तब तक शाला की अग्नियों की सेवा का सारा भार उपकोसल पर है और अन्य छात्रों का पाठारम्भ मेरे आने पर होगा। इन नवीन छात्रों की देख-भाल भी उपकोसल करेगा। सत्यकाम के इन गूढ वचनों से पत्नी के निराश मन में कुछ आशा का संचार हुआ। पर गुरु के लम्बी यात्रा पर चले जाने और जाते समय एक दम मौन रहने के कारण उपकोसल को बहुत दुःख हुआ। मानसिक अशान्ति ने उसके आहत हृदय को एक दम विचलित कर दिया और वह बहुत दुःखी होकर अनशन करने पर उतारू हो गया। पर इस निश्चय के करलेने पर भी उसने अग्नियों की आराधना से मुख नहीं मोड़ा।

सायंकाल अन्य शिष्यों से उपकोसल के अनशन का समाचार सुन कर गुरुपत्नी को बहुत दुःख हुआ। वात्सल्य-स्नेह से उनका दयालु हृदय भर आया और उपकोसल के पास जाकर उन्होंने कहा—'वत्स उपकोसल ! तू किस लिए भोजन नहीं कर रहा है ?'

उपकोसल उठकर खड़ा हो गया और हाथ जोड़ कर विनीत भाव से बोला—'मातः! मेरे मन में व्याधियों की बाढ़-सी आ गई है, मैं पहले तो केवल कुछ निराश था पर अब अनेक प्रकार की कठिनाइयों ने मेरी बुद्धि को विकृत कर दिया है, अतः अब मैं कुछ भी न खा सकूँगा।'

गुरुपत्नी ने कहा—'ब्रह्मचारी! तेरी मानसिक व्याधियों को मैं जानती हूँ और यह भी जानती हूँ किन कठिनाइयों ने तेरी बुद्धि को विकृत कर रखा है। पर तुझे इस तरह परेशान नहीं होना चाहिए। तेरे गुरु इतने अनजान नहीं हैं कि वह तेरी कठिनाइयों और मानसिक

व्याधियों को न जानते हों, या जान बूझ कर टाल रहे हों। आज सवेरे का ही हाल है। यात्रा पर जाते समय उन्होंने कहा है कि 'शाला की अग्नियों की आराधना का सारा भार उपकोसल पर रहेगा।' इससे यह तो सिद्ध हो जाता है कि वह तुझे उस कार्य के योग्य समझते हैं। तू उठ और भोजन कर। इस तरह मेरे रहते हुए तू आश्रम मे अनशन नहीं कर सकता।'

उपकोसल का शोक-विदग्ध हृदय गुरु के इस अज्ञात-स्नेह के समाचार को सुन लेने के बाद से तरंगित हो उठा। इस अभूतपूर्व सम्मान के संदेश ने उसके सूखते जीवन में सजीवनी डाल दी। कृतज्ञता से उसकी रोमावलि पुलकित हो गई। आँखों से प्रसन्नता के मोती चू पड़े और कण्ठ गदगद हो गया। हाथ जोड़ कर उसने कहा—'मातः! आज रात को तो अनशन करने की मैंने प्रतिज्ञा कर ली है, क्योंकि मानसिक अशान्तियो के दूर करने का इससे सुगम कोई दूसरा उपाय नहीं है। किन्तु कल से मै अनशन नहीं करूँगा। आप आज के लिए मुझे हृदय से क्षमा करे, क्योंकि मैं बहुत विवश हूँ।'

गुरुपत्नी चुप होकर चली गई। उपकोसल अग्नियों की सेवा मे लीन हो गया। उस दिन और रात को उसने अपनी प्रतिज्ञा का पूर्ण पालन किया।

× × ×

ब्रह्मचारी उपकोसल के उस दिन निराहार रहने से अन्तर्यामी अग्नियों ने विचार किया कि इस शुद्ध हृदय तपस्वी ब्रह्मचारी ने इतने दिनों तक मन लगाकर हमारी सेवा की है। पर इसकी कामना आज तक पूर्ण नहीं हो सकी। इसने आज कुछ आहार भी नही किया है फिर भी हमारी सेवा मे उसी तरह से दत्तचित्त है। इसकी सच्ची सेवा का फल हमे अवश्य देना चाहिए। जिस तरह से भी हो, हम लोग इसकी कामनाओ की पूर्ति करे।

रात के प्रथम प्रहर बीत जाने के बाद जब उपकोसल अग्निशाला

मे यज्ञ-कुण्ड के समीप मत्रों का सस्वर उच्चारण करते हुए भक्तिसमेत समिध डाल रहा था, अचानक यज्ञ कुण्ड मे एक गम्भीर आवाज आई—'ब्रह्मचारिन्! तेरी सेवा से मै परम प्रसन्न हुआ हूँ। अपना अभिलषित वरदान तू मुझसे माँग।'

उपकोसल स्तम्भित हो गया। चारों ओर दृष्टि उठाकर उसने यज्ञशाला मे देखा, पर कोई दिखाई नही पडा। वह कुछ भयभीत हो गया क्योंकि बिना शरीर की मानव वाणी सुनने का अवसर उसे नही प्राप्त हुआ था। इसी बीच यज्ञ-कुण्ड से फिर आवाज आई—'ब्रह्मचारी! तू भयभीत मत हो। मैं तेरी सेवाओं से प्रसन्न अग्नि हूँ। तू अपनी अभिलाषा का वरदान माँग।'

उपकोसल का भय विस्मय मे बदल गया। रोमावलि खडी हो गई, हृदय धडकने लगा, पैरों मे कँपकँपी आ गई। थोडी देर तक चुप रहने के बाद काँपते हुए स्वर मे वह बोला—'अग्निदेव! यदि आप सचमुच मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश कीजिए, जिसे जानकर ससार के कष्टों से सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है। इस ससार मे जहाँ कही मै दृष्टि डालता हूँ, सर्वत्र दुःखो का समुद्र उमड़ा दिखाई पडता है। अतः जिस तरह से भी इन दु.खों का अन्त हो वही उपदेश मुझे कीजिए।'

इतना कह उपकोसल चुप हो गया। थोडी देर तक यज्ञशाला मे चारों ओर सन्नाटा रहा, फिर एकाएक अग्नि कुण्ड से एक परम तेजस्वी मानवाकृति बाहर निकली, जिसके शरीर से दिव्य तेज निकल कर चारों ओर फैल रहा था। यज्ञशाला के चारों ओर उस दिव्य शरीर के प्रकाश का पुञ्ज देखते-देखते ही उद्भासित हो गया। अब तो उस दिव्य शरीर की ओर देखने की शक्ति उपकोसल मे नही रही। उसकी आँखे मुँद गई, शरीर भय से काँपने लगा और चेतना हीन होने लगी। वह मुर्छित होकर गिर पडा। थोडी देर के बाद उसने अनुभव किया कि कमल की पखुडियों के समान कोमल, नवनीत के समान मृदु और हिम के समान

शीतल सुखदायी अंगुलियों से उसकी पीठ पर कोई कुछ फेर रहा है, उसकी मिची हुई आखों की पलकों से लेकर मुख और ललाट तक उन शीतल सुखदायी अगुलियों ने जादू की लकड़ी की तरह फिर कर उसे नवीन चेतनता और एक दिव्य ज्योति का अनुभव कराया। उसे मालूम होने लगा मानो हृदय मे शरत् पूर्णिमा की चाँदनी मे सौगुनी अधिक प्रकाशमयी, शीतल, सुखदायिनी कौमुदी खिली हुई है। मन मे सौ गुना अधिक उत्साह हो आया है, अग प्रत्यगों मे विद्युत् प्रकाश की तरह स्फूर्ति की लहरें तरंगित हो रही हैं और हृदय वीणा के तारों को किसी ने उन्हीं मृदु अगुलियों से गुद-गुदाकर झकृत कर दिया है। वह उठ बैठा और सामने देख रहा है कि एक सौम्य मूर्ति ऋषि उसके सामने खडे हैं। वह धन्य हो गया।

× × ×

दूसरे दिन प्रातःकाल उपकोसल बहुत सवेरे उठा और नित्यकर्म मे निवृत्त होकर जब यज्ञशाला मे पहुँचा तो उसके नवीन साथियों मे से एक ने बडे कुतूहल से पूछा—'भाई उपकोसल! आज तो तुम्हारी मुख की शोभा देखने योग्य है। तुम्हारे शरीर से तेज-सा छिटक रहा है। बात क्या है?'

उपकोसल ने सहज भाव से कहा—'भाई! यह मेरे उपवास का फल है। पूज्य माता जी का आशीर्वाद है, आराध्य गुरुदेव और उनकी आहुत अग्नियो की महान् कृपा है। मुझे तो अपने मे कुछ विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई पड रहा है।'

एक दूसरे साथी ने कहा—'नहीं भाई! बात सच है। मालूम होता है जैसे तुम रोज की अपेक्षा अधिक शान्त और सन्तुष्ट हो। मुख मण्डल हमारे अन्तःकरण का प्रतिबिम्ब है, जो भावनाएँ भीतर होती हैं, वह मुखमण्डल पर बाहर दिखाई पडती हैं। मुझे लगता है कि जैसे तुम आज बहुत सन्तुष्ट और शान्त हो गए हो।'

उपकोसल ने दूसरे गुरुभाई का कुछ उत्तर नहीं दिया। केवल

मुसकराते हुए उसकी ओर एक बार निहार कर वह अग्नियों की आराधना में तन मन से जुट गया। उस दिन दोपहर को गुरुपत्नी ने उसे यज्ञशाला के बाहर से पुकारा—'वत्स उपकोसल! कहाँ है। क्या अभी तक तूने कुछ खाया पिया नहीं।' उपकोसल ने हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए कहा—'मातः! सवेरे पानी पी लिया है, अभी मध्याह्न की आहुति डालने के बाद आहार की चिन्ता करूँगा।'

गुरुपत्नी ने देखा आज का उपकोसल कुछ दूसरा ही दिखाई पड़ रहा है। उन्होंने पूछा—'वत्स! आज मैं देख रही हूँ कि तेरे मुख मण्डल पर कल की तरह विषाद की रेखाएँ नहीं हैं, अंगों में ग्लानि का चिह्न नहीं है और तेरी आँखें तेरी मानसिक शान्ति और सन्तोष की साक्षी दे रही हैं।'

उपकोसल ने विनीत भाव से कहा—'मातः! यह सब गुरुदेव, आप और अग्निदेव की मुझ हतभाग्य के ऊपर महान् कृपा है। मैं तो जैसा कल था वैसा ही आज भी हूँ।'

गुरुपत्नी को उपकोसल की निश्छलता और प्रसन्नता से बड़ा सन्तोष हुआ। बोलीं—'वत्स! तू ने कल भी कुछ खाया नहीं। आज मैंने तेरे लिए भी भोजन तैयार कर के रखा है, समिधाओं को अभिसिंचित करने के बाद तू चले आना। देखना, कहीं बहाना मत बना देना।'

उपकोसल चुप होकर यज्ञशाला की ओर ताकने लगा। गुरुपत्नी आश्रम में चली गईं और सब नये साथी उपकोसल के भाग्य पर ईर्ष्या करने लगे। एक ने ताना कसते हुए कहा—'भाई! अब उपकोसल का क्या पूछना है? उसे भोजन भी अब बना-बनाया मिल रहा है। अब उसके भाग्य के दिन शुरू हो गए हैं!'

दूसरे ने कहा—'भाई! इतने दिनों तक बेचारे ने बड़ी ठोकरें खाई हैं, क्या तुम यह चाहते थे कि वह सारी उमर गुरुकुल में ही बिता दे। भगवान् सब के दिन फेरते हैं?'

उपकोसल चुपचाप अग्निकुण्ड के पास जाकर समिधाओं का

अभिसिंचन करने लगा। मानों उसने किसी की बातों को सुना ही नहीं। दोपहर के बाद जाकर उसने गुरुपत्नी के हाथों से बना हुआ भोजन किया। बारह वर्ष के बाद इस प्रकार के अमृत तुल्य आहार को सम्मान पूर्वक प्राप्त कर उसने भी समझ लिया कि मेरे ऊपर गुरुदेव की सच्ची कृपा हो गई है।

रात फिर आई। उपकोसल संध्या के नित्यकर्मों से अवकाश प्राप्त कर कल रात को अग्नि द्वारा उपदिष्ट ब्रह्म-विद्या का चिन्तन करते हुए शान्त मुद्रा मे एक कोने मे बैठ गया। पहर रात बीतने के बाद वह नित्य की भाँति फिर यज्ञ कुण्ड के समीप जाकर मन्त्रों का सस्वर उच्चारण करते हुए भक्ति समेत समिधा डालने लगा। कल की तरह आज फिर यज्ञकुण्ड से आवाज आई—'ब्रह्मचारिन्! मै भी तेरी सेवा से परम प्रसन्न होकर तुझे वरदान देने के लिए आया हूँ। अपना अभिलषित वरदान तू मुझसे माँग।'

उपकोसल आज नही डरा। उसके हृदय मे हर्ष की बाढ-सी आ गई। गद्गद स्वर से वह बोला—'अग्निदेव! मुझे ब्रह्मविद्या के सिवा इस ससार मे किसी अन्य वस्तु की कामना नही है। मुझे चारों चरणों समेत ब्रह्म का उपदेश मिले, यही चाहता हूँ।'

यज्ञकुण्ड की प्रदीप्त लपटों से कल की भाँति फिर वही दिव्य आकृति बाहर निकलते हुए बोली—'ब्रह्मचारिन्! कल तुझे ब्रह्म के एक चरण का उपदेश मिल चुका है। अब मै तीन अशो मे प्रकट होकर तुझे ब्रह्म के शेष चरणों का उपदेश करूँगा। आज दूसरे चरण का उपदेश तुझे मै दे रहा हूँ। कल और परसों शेष चरणों का उपदेश ग्रहण करना। किन्तु वत्स! इस बात का ध्यान रखना कि हम सब तुझे अग्न्याराधन तथा ब्रह्म अर्थात आत्मा के यथार्थ तत्त्व का ही उपदेश करेंगे, तेरे आचार्य यात्रा से लौटकर तुझे इस ब्रह्मविद्या के फल का उपदेश करेंगे। बिना उनके उपदेश को ग्रहण किये तेरी यह विद्या पूर्ण नहीं होगी, निष्फल रह जायगी।'

उपकोसल ने हाथ जोड़कर शीश झुकाते हुए कहा—'देव! मैं इतनी अज्ञता नहीं करूँगा कि आचार्य चरण की विद्या प्राप्त किए बिना गुरुकुल से चला जाऊँ।'

× ×

कुछ दिनों के बाद सत्यकाम अपनी लम्बी यात्रा से वापस लौटे। वह कुछ दूर से दिखाई पड़े कि आश्रम में चहल पहल मच गई। शिष्यों ने गुरुदेव के चरणों की धूल मस्तक में लगाई। किसी ने उनका कमण्डलु लिया और किसी ने मृगछाला। उस समय उपकोसल अग्नि की आराधना में लगा था अतः उसे कुछ पता नहीं था। सत्यकाम ने शिष्यों की भीड़ में उपकोसल को देखना चाहा, पर वह नहीं मिला। उन्होंने जान लिया कि उपकोसल में अब कितनी गम्भीरता आ गई है। आश्रम में थोड़ी देर तक श्रम दूर करने के बाद उन्होंने शिष्यों को अपने-अपने काम पर जाने की आज्ञा दी और स्वयं यज्ञकुण्ड की ओर अकेले चल पड़े। शाला के द्वार पर पहुँच कर सत्यकाम ने देखा कि उपकोसल एकाग्र मन से मध्याह्न की समिधाओं को ठीक कर रहा है। उसके मुखमण्डल पर सूर्य के समान जाज्वल्यमान तेज विराज रहा है और जीभ वेद मन्त्रों के उच्चारण में निरत है।

सत्यकाम ने मृदुस्वर में पुकारा 'वत्स उपकोसल!'

उपकोसल ने आँखें उठकर देखा तो चिरकाल के प्रवास के बाद गुरुदेव शाला के द्वार पर विराजमान हैं। समिधाओं को नीचे रख वह दौड़ पड़ा और गुरु के चरणों से लिपट गया। सत्यकाम ने उपकोसल को उठाकर छाती से लगा लिया। उन्होंने देखा कि उपकोसल के मुख मण्डल पर ऐसी प्रखर दीप्ति विराजमान है कि आँखें चकाचौंध हो रही हैं। उसकी आँखें आदि समस्त इन्द्रियाँ सात्त्विक प्रकाश पुंज से प्रदीप्त हैं, पूरे शरीर में ब्रह्मवर्चस् की पूर्ण छटा छिटक रही है। हर्ष में भर कर उन्होंने पूछा—'वत्स! तेरा मुख ब्रह्मज्ञानियों की तरह चमक रहा है। इन्द्रियों समेत सारे शरीर में ब्रह्म तेज-सा झलक रहा

# गार्गी और याज्ञवल्क्य

[ ७ ]

मगध-साम्राज्य की स्थापना के पहले भी उस देश का नाम मिथिला था, जहाँ पर आजकल दरभंगा, मुँगेर, शाहाबाद आदि बिहार के उत्तरी जिले फैले हुए हैं । मिथिला का राजवंश भारत की ऐतिहासिक राजवंशावलि मे बहुत प्रतिष्ठित समझा जाता था । उसका मुख्य कारण यह था कि वहाँ के राजा लोग अपनी प्रजा को पुत्र के समान स्नेह की दृष्टि मे देखते थे । वे उनकी हर एक बातों में सहायता करते थे । आजकल के राजाओं की तरह प्रजा को चूस कर, अनेक प्रकार के कष्ट पहुँचाकर अपने निजी ऐशो-आराम के लिए धन इकट्ठा करने की ओर उनका ध्यान नही था । वे प्रजाओं के जनक अर्थात् पिता कहे जाते थे । पिता का काम है अपने बच्चों की रक्षा करना, उन्हे खाना कपड़ा देना, पढा-लिखाकर योग्य बनाना, बीमारी मे तन मन धन से दवा-दारू का प्रबन्ध रखना, साराश यह कि सुख-दुख में सर्वत्र उनकी उन्नति और भलाई का ध्यान रखना । मिथिला के राजाओं का यह गुण खानदानी बन गया था, यही कारण है कि वे प्रायः सब के सब 'जनक' नाम से प्रसिद्ध हुए । प्रजा की रक्षा मे और अपने पारलौकिक

श्रेय की चिन्ता मे अपने शरीर का भी ध्यान नहीं रखते थे यही कारण है कि वे सब विदेह भी कहे जाते थे।

इसी मिथिला के एक राजा विदेह या जनक की यह कथा बतला रहा हूँ। वह राजा जनक अपने समय के एक बहुत बडे राजा ही नहीं थे बल्कि बहुत बड़े विद्वान् और महात्मा भी थे। उस समय यद्यपि लोग ब्राह्मण-गुरु से ही विद्या सीखने जाते थे किन्तु राजा जनक से, क्षत्रिय हाने पर भी, विद्या सीखने के लिए दूर-दूर से विद्यार्थी आते थे। यही नहीं, बडे-बडे ऋषि मुनि महात्मा और पण्डित भी किसी कठिन विषय के आ जाने पर उनसे आकर गुत्थी सुलझाते थे। इस तरह उनका जीवन इतना विचित्र और दुरंगी था कि लोग उनकी जीवन-चर्य्या सुन कर विस्मय मे पड जाते थे।

एक बार उन्हीं राजा जनक ने एक बहुत बडा यज्ञ किया, जिसमें दुनिया के कोने-कोने से ढूँढ-ढूँढ कर विद्वान् पण्डित, महात्मा ऋषि, मुनि बुलाए गए। बड़ी धूमधाम से यज्ञ सम्पन्न हुआ और मंगल मुहूर्त मे विद्वान् राजा जनक ने यज्ञाग्नि मे पुर्णाहुति डालकर यज्ञ की शेष क्रियाएँ भी समाप्त कर दी, केवल कुछ पण्डितो को अतिरिक्त दक्षिणा देना बाकी रह गया। ठीक अवसर पर राजा के हृदय में एक कुतूहल जागा। उन्होने सोचा कि आज इस विद्वन्मण्डली मे यह निश्चय हो जाना चाहिए कि कौन सब से बडा विद्वान् और महात्मा पण्डित है। क्योंकि सभी अपने-अपने को बहुत बडा विद्वान् समझते हैं और एक दूसरे को अपमानित करने का अवसर ढूँढते रहते हैं। इस फैसले के बाद कम से कम यह तो विदित ही हो जायगा कि इस समय का सब से बड़ा विद्वान् कोई एक है!

राजा के उस यज्ञ मे विशेष कर कुरु और पाचाल देश के पण्डितों मे बडी होड चलती थी, वे सब के सब अपनी विद्या के मद मे चूर रहते थे। राजा ने यज्ञ की समाप्ति कर प्रायः सभी विद्वानों को एक समान प्रचुर दक्षिणा देकर सन्तुष्ट किया और सब प्रसन्न मन से

आर्शीवाद देकर अपने-अपने घर जाने का तैयारी मे लग गए थे कि इसी बीच पण्डितों से आर्शीवाद ग्रहण कर राजा ने कुछ अन्न-जल ग्रहण करने की आज्ञा ले अन्त.पुर मे प्रवेश किया। राजमहल के प्रवेश द्वार पर पहुँच कर उसने अपनी गोशाला के प्रधान को बुलाकर आज्ञा दी कि 'सहस्र गौओं को स्नान कराकर तैयार कराओ और अमात्य से जाकर कहो कि उनकी सींगो मे दस-दस सुवर्ण की मुद्राएँ बाँध दी जायँ। मै जब तक भीतर मे भोजन कर के बाहर आ रहा हूँ तब तक यह सब प्रबन्ध हो जाना चाहिए।'

थोड़ी ही देर बाद भोजन कर अन्त.पुर से ज्यों ही राजा बाहर निकला त्यों ही इधर से गोशाला के अध्यक्ष ने समीप जाकर हाथ जोड कर निवेदन किया—'महाराज की आज्ञा मे एक सहस्र गौएँ स्नान करा कर पुष्पादि अलकरणों से सजा दी गई हैं।'

राजा ने कहा—'उनका हर एक सींगो मे दस दस सुवर्ण मुद्राएँ भी बँध गई हैं न।'

प्रधान गोपालक ने कहा—'हाँ, महाराज! सब कुछ हो चुका है।'

राजा ने कहा—'उन्हे हँकवा कर यज्ञ-मण्डप के समीप लाकर खड़ी करो। देखना, कोई भाग न सके ऐसा प्रबन्ध करना।'

प्रधान गोपालक ने हाथ जोड़कर कहा—"जो आज्ञा महाराज।'

प्रसन्नमुख राजा यज्ञ मण्डप मे पहुचा, जहाँ ब्राह्मण लोग अपने-अपने आश्रमों को लौटने का तैयारी करके उसके आने की उत्सुक प्रतीक्षा मे थे। और इधर प्रधान गोपालक भी अपने अनुचरों समेत सहस्र गौएँ लेकर यज्ञशाला की ओर चल पडा। गौओं को आते देख ब्राह्मणों की मण्डली मे एक कुतूहल और हर्ष का पारावार-सा उमड पड़ा। सब ने समझा कि शायद राजा हमे एक-एक गौएँ और अधिक दान करना चाहता है।

राजा के पहुँचते ही सब पण्डित लोग उसे घेर कर चारों ओर से खडे हो गये और शीघ्र अपने-अपने घर जाने की आज्ञा प्राप्त करने

की प्रतीक्षा करने लगे ।

थोडी देर तक चुप रहने के बाद राजा ने कुछ गम्भीर स्वर में कहा—'हे पूजनीय ब्राह्मणो ! आप लोगों ने इस दास के ऊपर जिस प्रकार की कृपा करके इतने दिनो तक सच्चे हृदय से यज्ञ सम्पन्न करने मे सहायता पहुँचाई है, उसके लिए यह आपका चिर कृतज्ञ रहेगा। यज्ञ मे इतने दिनों तक एक साथ रहने से आप लोगो को बहुत सारे कष्ट सहन करने पडे होंगे । मेरे अज्ञ अनुचर आप की सेवा भी भली तरह नहीं कर सके होंगे, इसके लिए आप सब मुझे हृदय से क्षमा करें । आप लोगों के समान तेजस्वी एव विद्वान ब्राह्मणो की कुछ सेवा करने का मुझे जो यह अवसर मिला है, वह कई जन्मों के पुण्य का फल है । मै अपनी खुशी का वर्णन किन शब्दों मे करूँ । आप सब के उपकारो से मेरे रोम-रोम बिके हुए हैं ।'

ब्राह्मणों की मण्डली मे चारो ओर से 'साधु-साधु' की ध्वनि होने लगी । ब्राह्मणो के निर्मल हृदय मे राजा जनक की इस विनीत भावना ने एक अमिट छाप छोड दी । सब के सब कृतज्ञता के प्रवाह में बहने-से लगे । इसी बीच प्रधान गोपालक गौओं को चारों ओर से घेर कर खडी कर चुका था ।

राजा ने गम्भीर भाव से एक बार गौओं की भीड की ओर दृष्टि डाली और फिर थोडी देर तक चुपचाप रहने के बाद ब्राह्मणों की ओर दाहिना हाथ उठा कर विनीत स्वर में कहा—'पूज्य ब्राह्मणो ! मैं चाहता हूँ कि आप सब लोगो में जो सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ हों वे इन सब गौओं को हाँक कर अपने घर ले जायँ । उसी सर्वश्रेष्ठ विद्वान् एव महात्मा के चरणों मे भेंट करने के लिए मैने इन्हे यहाँ खडी कराया है ।'

राजा के इन विनत शब्दो ने ब्राह्मण-मण्डली के कोलाहल को एकदम शान्त कर दिया । कुछ ने स्पष्ट सुना और कुछ ने अधूरा सुन कर भी सब कुछ जान लिया । थोडी देर तक तो सारी भीड मूर्ति की तरह निश्चेष्ट बनी रही, क्योंकि सभी यह जानते थे कि राजा जनक

के सामने अपनी विद्वत्ता और ब्रह्मनिष्ठा का दावा करना आसान काम नहीं है। थोड़ी देर बाद कुछ आचार्यो के शिष्यो ने अपने-अपने गुरु के कान के पास जाकर एक सहस्र गौओं को एक साथ पाने का लोभ फुसफुस शब्दों मे प्रकट किया, पर आचार्यो की हिम्मत ने जनक के सामने अपनी विद्वत्ता प्रकट करने की धृष्टता से साफ इनकार कर दिया। वे शिर हिला-हिला कर इधर-उधर ताकने लगे। थोड़ी देर तक इस नीरवता ने राजा जनक के उस यज्ञ मण्डप मे अपना अधिकार और जमाया, जहाँ पर अभी थोडी देर पहले तुमुल कोलाहल मचा हुआ था। यज्ञ-कुण्ड मे निकलने वाली धूम की सुगन्धित काली रेखा मानो उन सभी ब्राह्मणों की भर्त्सना करती हुई ऊपर चढी जा रही थी, पर वे सब के सब चुप ही बने रहे। किसी मे बोलने की हिम्मत नही आई।

थोडी देर बाद इस नीरवता को याज्ञवल्क्य के इन गम्भीर शब्दों ने तोड दिया। समुपस्थित सभी लोगों ने उत्कण्ठित मन से सुना कि वे अपने शिष्य को सम्बोधित कर कह रहे हैं—'प्रिय दर्शन सामश्रवा! इन समस्त गौओं को हाँक कर अपने आश्रम की ओर ले चलो।'

याज्ञवल्क्य के मुँह से इन शब्दो के निकलने भर की देर थी कि उनके उत्साही शिष्य गौओं के पास पहुँच कर चारों ओर से हाँकने लगे। उस समय याज्ञवल्क्य का मुखमण्डल तेज से प्रदीप्त हो उठा था और उनके स्वर में धीरता एव गाम्भीर्य का मिश्रण था। ब्राह्मणों ने देखा कि वह राजा के पास पहुँच कर कह रहे थे—'राजन्! अब आज्ञा हो तो आश्रम को चलूँ क्योकि वहाँ से आए हुए काफी दिन बीत गए, पता नहीं शिष्यों की पढाई ठीक से चल रही है या नही।'

सभा मे उत्तेजना की एक छिपी लहर-सी फैल गई, क्योंकि याज्ञवल्क्य के शिष्य गौओं को हाँक कर थोडी दूर निकल गए थे और इधर राजा जनक भी याज्ञवल्क्य की विदाई के लिए चल पड़े थे।

बड़े बड़े वयोवृद्ध एव शान्त आचार्यो मे भी याज्ञवल्क्य की इस धृष्टता ने खलबली मचा दी, पर किसी मे अग्रसर बनने की क्षमता नहीं रही।

राजा जनक के प्रधान होता ऋत्विज अश्वल से नहीं रहा गया, क्योंकि उन्हें यह पता था कि भूमण्डल भर के विद्वानो मे उनसे वयोवृद्ध एव सम्मानित दूसरा कोई नहीं था। इसके अतिरिक्त अपने यजमान की दक्षिणा को एक बाहरी उद्धत युवक सर्वश्रेष्ठ विद्वान् एव ब्रह्मनिष्ठ बन कर ले जाय, यह भी मृत्यु से कम दुःखदायी नहीं है। अपयश ही तो सच्ची मृत्यु भी है। इस तरह अपमानित होकर फिर से राजा जनक की आँखों मे अपनी पूर्व-प्रतिष्ठा का प्राप्त करना मुश्किल था। वे एकदम विचलित से हो गए और पीछे से याज्ञवल्क्य के आगे खड़े होकर रूखे स्वर मे बोल पड़े—'याज्ञवल्क्य! क्या तुम्हीं हम सब मे सब से बड़े विद्वान् और ब्रह्मनिष्ठ हो, जो इन गौओं को हँकाए हुए चले जा रहे हो।'

अश्वल के ओठ काँप रहे थे, दिल धड़क रहा था और स्वर कण्ठ सूख जाने के कारण फटा हुआ था।

याज्ञवल्क्य खड़े हो गए। पीछे-पीछे चलने वाले राजा जनक भी अश्वल की ओर मुँह कर के खड़े हो गए। पीछे की सारी विद्वन्मण्डली भी इधर-उधर खड़ी होकर उत्सुक कानो से याज्ञवल्क्य का उत्तर सुनने के लिए चुप हो गई। पर याज्ञवल्क्य भी अभी चुप खड़े थे। फिर थोड़ी देर तक इधर-उधर देखकर याज्ञवल्क्य ने मुसकराते हुए कहा—'भाई! इस उपस्थित ब्राह्मण मण्डली मे जो सब से बड़ा विद्वान् तथा ब्रह्मनिष्ठ है उसे मै सादर नमस्कार करता हूँ। आप ने यह कैसे जान लिया कि मैं सर्वश्रेष्ठ विद्वान् और ब्रह्मनिष्ठ बनने की धृष्टता कर रहा हूँ। मुझे तो इन गौओं की चाह थी, इसीलिए ले जा रहा हूँ।'

अश्वल को अपनी विद्वत्ता और ब्रह्मनिष्ठा पर पूरा भरोसा था, राजा जनक के प्रधान होता के पद पर इतने दिनो तक रह कर वे देश-देशान्तर के पण्डितों पर अपनी विद्वत्ता और ब्रह्मनिष्ठा की धाक जमा

चुके थे। उद्धत याज्ञवल्क्य के इस शान्त उत्तर ने भी उन्हे झकझोर दिया। अपमानित करने की भावना उनमे प्रबल रूप से जाग उठी, स्वर को कठोर बनाते हुए वे बोले—'याज्ञवल्क्य ! अपनी विद्वत्ता और ब्रह्मनिष्ठा को बिना प्रकट किए हुए तुम गौओं को हॅका कर नहीं ले जा सकते। महाराज ने पहले ही यह बात प्रकट कर दी है। क्या तुम समझते हो कि हम मे से किसी के मन मे इन एक सहस्र सुवर्ण मण्डित गौओ की चाह नही है। धृष्ठता मत करो और अपने शिष्यों को रोका, जब तक मेरे प्रश्न का समुचित उत्तर नहीं दे लोगे तब तक गौओ को नही ले जा सकते।'

याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों को गौएँ खडी करने का आदेश देकर अश्वल से मुसकराते हुए विनीत स्वर मे कहा—'भाई ! गौएँ खडी हैं। आप जो प्रश्न चाहे मुझसे कर सकते हैं।'

अश्वल ने थोडी देर तक सोचा विचारा। फिर याज्ञवल्क्य की ओर दाहिना हाथ उठा कर कहा—'याज्ञवल्क्य ! क्या तुम यह बतला सकते हो कि किस प्रकार ये हवन करने वाले होत्री गण मृत्यु को पार कर मुक्त हो सकते हैं ?'

याज्ञवल्क्य ने बिना रुके हुए कहा—'अश्वल ! चारों प्रकार के होत्रियों को उस नित्य भाव का, जो इनके कर्मों के पीछे है, ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अर्थात् उन्हें ऋचाओं का पाठ करना, छन्दों का गान करना, आहुति देना, और पूजन का काम करना चाहिए। इनकी स्थिति वाणी, प्राण, चक्षु और मन पर है। किन्तु मन मे उस अनन्त का ध्यान करना चाहिए जो सब के पाछे है। उसी अनन्त को प्राप्त करने के बाद होत्री गण मृत्यु को प्राप्त कर मुक्त हो सकते हैं। केवल कर्मों से मुक्ति की प्राप्ति या मृत्यु का भय दूर नहीं हो सकता।'

राजा जनक ने 'साधु' कह कर याज्ञवल्क्य के उत्तर की सत्यता पर अपना मुहर लगा दी। अश्वल चुप हो गए और सारी ब्राह्मण मण्डली मे थोडी देर के लिए फिर सन्नाटा-सा छा गया।

।

इसके बाद भीड़ को चीर कर आगे बढते हुए जरत्कारु के वंशज ऋतभाग के पुत्र आर्तभाग ने राजा जनक के सामने खड़े होकर याज्ञवल्क्य को सम्बोधित करते हुए कहा—'याज्ञवल्क्य ! मेरे प्रश्न का उत्तर दिए विना तुम्हारी विद्वत्ता और ब्रह्मनिष्ठा की पुष्टि नहीं हो सकती। बोलो, तैयार हो मेरे प्रश्न का उत्तर देने के लिए ।'

याज्ञवल्क्य ने मुसकराते हुए सहज स्वर मे कहा—'आर्तभाग ! मै आपके एक नहीं अनेक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए तैयार हूँ, आप पूछ सकते हैं ।'

आर्तभाग ने कुछ देर तक सोचने-विचारने के बाद पूछा—'याज्ञवल्क्य । यह तो सभी जानते हैं कि मृत्यु इस ससार मे सबको खा जाती है, मगर उस मृत्यु को कौन खाता है ?'

याज्ञवल्क्य ने सहज भाव से कहा—'मृत्यु अग्नि है, जो सब को जला देती है, किन्तु जिस तरह साधारण अग्नि को भी जल खा लेता है उसी तरह उस मृत्यु-अग्नि को भी शक्ति का जल खा लेता है अर्थात् वह शक्ति का समुद्र जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है उस मृत्यु का भी भक्षक है ।'

आर्तभाग चुप हो गए । थोडी देर तक चुप रहे, फिर बोले—'क्या मनुष्य के मरने के बाद उसकी इन्द्रियाँ उसके साथ-साथ जाती हैं ।'

'नहीं, वे तो उसके शव के साथ रह जाती हैं ।' याज्ञवल्क्य ने कहा ।

आर्तभाग ने कहा—'तो फिर उसके साथ क्या जाता है ।'

'उसका नाम ।' याज्ञवल्क्य ने कहा ।

आर्तभाग ने कुछ रुष्ट होकर कहा—'याज्ञवल्क्य । इतना मैं भी जानता हूँ, तनिक स्पष्ट करके समझाओ । मै यह पूछ रहा हूँ कि जब मनुष्य मर जाता है और उसका शरीर तथा इन्द्रियाँ नष्ट हो जाती हैं, तब फिर उसका क्या बच रहता है ?'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'तात आर्त्तभाग ! इसकी बातचीत सबके

सामने नहीं हो सकती। हम दोनों महाराज के साथ एकान्त मे चलें तब वही मै दृष्टान्त के साथ इसका पूर्ण उत्तर आप को दे सकूँगा, आप अगर चाहे तो विद्वन्मण्डली से कुछ और विद्वानों को साथ ले चल सकते हैं।'

आर्तभाग सहमत हो गए और राजा जनक तथा दो चार प्रमुख वयोवृद्ध मुनियों के साथ एकान्त स्थल में चले गए। वहाँ दोनो बड़ी देर तक शास्त्रार्थ करते रहे। अन्त में जो कुछ निश्चय हुआ उसका तात्पर्य यही था कि 'मानव जीवन का सर्वस्व उसका कर्म है। वही सब से प्रशस्त और पूज्य है। अच्छे कर्मों से मनुष्य अच्छा होता है और बुरे कर्मों से बुरा। मरने के बाद यही कर्म ही शेष रह जाते हैं।'

उस एकान्त स्थल से वापस लौट कर आर्तभाग ने विद्वन्मण्डली की ओर मुँह करके उच्च स्वर मे कहा—'विद्वानों! मेरे प्रश्नों का उत्तर देकर याज्ञवल्क्य ने अपनी विद्वत्ता और ब्रह्मनिष्ठा का पूर्ण परिचय दिया है। मै तो इन्हे इन गौओं को ले जाने का अधिकारी मानता हूँ। यदि आप लोगों मे से कोई इनसे कुछ पूछना चाहे तो सामने आकर पूछे।'

तदन्तर सभा की थोड़ी देर की नीरवता को भंग करते हुए लाह्य के पुत्र भुज्यु नामक आचार्य भीड़ से बाहर आकर राजा जनक और याज्ञवल्क्य के सामने खड़े हुए। उस समय उनका मुख तेज की अधिकता से चमक रहा था और सफेद दाढी छाती तक नीचे लटक कर उनकी विद्वत्ता के साथ साथ वयोवृद्धता की भी सूचना दे रही थी। थोड़ी देर तक याज्ञवल्क्य की ओर निर्निमेष ताकने के बाद भुज्यु ने कहा—'याज्ञवल्क्य! मै एक बहुत छोटा-सा प्रश्न कर रहा हूँ। उसका उत्तर देने के बाद तुम मेरी दृष्टि म सबसे अधिक विद्वान् और ब्रह्मनिष्ठ सिद्ध होगे।'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'भगवन्! आप बड़ा से बड़ा प्रश्न कर सकते हैं, मै यथामति सब का उत्तर देने के लिये तैयार हूँ।'

भुज्यु याज्ञवल्क्य की विनीत दर्पोक्ति से पहले तो सहम गए फिर गम्भीर होकर बोले—'याज्ञवल्क्य! मैं यह जानना चाहता हूँ कि परीक्षित आदि नृपतिगण, जो अपने समय के बड़े दानी और यज्ञशील थे, मृत्यु के बाद कहाँ चले गए?'

याज्ञवल्क्य ने बिना रुके हुए कहा—'तात भुज्यु! आप ने बहुत सुन्दर प्रश्न किया। मृत्यु के बाद परीक्षित आदि भी वहीं गए जहाँ वे सब मनुष्य जाते हैं, जो उन्हीं की तरह अश्वमेध यज्ञ करते हैं और दान देते हैं।'

भुज्यु ने रुष्ट स्वर से कहा—'वह स्थान कहाँ है! इसी पृथ्वी पर या समुद्र में।'

याज्ञवल्क्य ने कहा - 'वह स्थल इस पृथ्वी और समुद्र के पार है।'

भुज्यु ने कहा—'इस पृथ्वी और समुद्र से कितने अन्तर पर वह स्थल है, इसे मैं जानना चाहता हूँ।'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'तात भुज्यु! वह स्थल इस लोक से छुरे की तेज धार अथवा मक्खी के पंख जितने सूक्ष्म अन्तर पर है। पर उसे हम देख नहीं सकते। उसी स्थल पर वे सब मनुष्य भी परीक्षित आदि के साथ निवास करते हैं, जिन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया है और प्रचुर दक्षिणाएँ दी हैं।'

भुज्यु ने कहा—'मैं यह जानना चाहूँगा कि उन्हें वहाँ पहुँचाता कौन है?'

'वे सब वहाँ वायु द्वारा पहुँचते हैं, जिसकी सर्वत्र अबाध गति है।' याज्ञवल्क्य ने कहा।

राजा जनक याज्ञवल्क्य के इस उत्तर से पुलकित हो उठे। अपने हार्दिक हर्ष को सूचित करते हुए बोले—'ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य! आपके इस समुचित उत्तर की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। महात्मन्! आप की विद्वत्ता सराहनीय है।'

भुज्यु चुप हो गए और सारी ब्राह्मण मण्डली याज्ञवल्क्य के तेजस्वी

ललाट एव कमल के समान प्रफुल्लित मुख मण्डल की ओर ताकने लगी। थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद भुज्यु ने भी आर्तभाग की तरह याज्ञवल्क्य की विद्वत्ता और ब्रह्मनिष्ठा को विनीत शब्दों में स्वीकार करते हुए कहा—'विद्वद्वृन्द! निस्सन्देह याज्ञवल्क्य की विद्वत्ता इतनी महान् है कि वह एक सहस्र गौओं को ले जा सकते हैं। अब आप सब मे जिसे कुछ और पूछना हो वह सामने आकर पूछे।

भुज्यु के चुप होते ही चक्र के पुत्र उषस्ति, जिन्हें अपनी विद्या और ब्रह्मनिष्ठा पर पूरा विश्वास था, भीड से आगे आकर याज्ञवल्क्य के सामने खड़े हो गए और गम्भीर वाणी मे बोले—'याज्ञवल्क्य! वह ब्रह्म या आत्मा जो सब के भीतर है और जिसको हम प्रत्यक्ष देख सकें क्या है?'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'भगवन् उपस्ति! वह तुम्हारी ही आत्मा है, जो सब वस्तुओ के भीतर है। वही तुम्हारे प्राण वायु को भीतर खींचती है और अपान वायु को बाहर निकालती है। किसी वस्तु का ज्ञान केवल मन से या दसों इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु इन दोनों से भी उस आत्मा को कैसे जान सकते हैं जो सब से अधिक विचारणीय, शब्दों को ग्रहण करने वाली और समस्त ज्ञान को जानने वाली है। वह इतनी सूक्ष्म और इतनी महान् है कि मन समेत इन इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं हो सकती। वह जिस तरह तुम मे प्रविष्ट है उसी तरह सब मे प्रवेश किए हुए है।'

उषस्ति चुप हो गए। और बड़ी देर तक चुप रहने के बाद विद्वानों की मण्डली की ओर मुख कर के बोले—'विद्वानों! याज्ञवल्क्य सच-मुच परम विद्वान् और ब्रह्मनिष्ठ हैं। मुझे तो इनसे अब कुछ भी नहीं पूछना है। आप लोगों मे से यदि किसी का कुछ पूछना है तो आकर पूछ लीजिए अन्यथा बेकार मे देर हो रही है।'

थोड़ा देर तक सभी आपस में एक दूसरे का मुख देखते रहे, और फिर कुशीतक के पुत्र कहोल सब को उत्सुक बनाते हुए भीड से निकल

कर राजा जनक और याज्ञवल्क्य के सम्मुख खड़े हुए। थोडी देर तक आकाश की ओर ताकने के बाद कहोल ने कहा—'याज्ञवल्क्य! तुमने जिस ब्रह्म या आत्मा के बारे मे अभी-अभी यह बतलाया है कि वही सब के भीतर प्रवेश किए हुए है और उसको मन या इन्द्रियो से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते उसको हम किस तरह प्राप्त कर सकते हैं? मेरे इस प्रश्न का उत्तर देकर तुम अपनी विद्वत्ता और ब्रह्मनिष्ठा का सच्चा परिचय दे सकते हो।'

याज्ञवल्क्य ने सहज भाव मे कहा—'तात कहोल! उस आत्मा या ब्रह्म को पाना बहुत सहज काम नहीं है। उसके लिए कोशिश करो। वह तुम्हारे भीतर ही है। उसे भूख प्यास सुख दुःख का अनुभव नहीं होता। वृद्धता और मृत्यु का भी दुःख उसे नही होता एव अज्ञान भी उसे नहीं घेरता। अतः उसे प्राप्त करने के लिए इन सब को छोडना पडता है, अर्थात् सारी कामनाओ का त्याग करने के बाद ही उसकी प्राप्ति सम्भव है। सन्तान, धन, राज्य आदि की सारी कामनाएँ एक ही प्रकार की होती हैं। उन सब को छोड कर ज्ञान और मानसिक बल की प्राप्ति होती है। मानसिक बल और ज्ञान जब कुछ स्थायी और दृढ़ बन जाता है तब मनुष्य मुनि अर्थात् ससार के सभी विषयो का विचार और मनन करने वाला होता है। उसे यह विदित हो जाता है कि यह पदार्थ विचारणीय है और यह नहीं। और इस स्थिति मे पहुँच कर जब दोनो का अन्तर स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है तब उस ब्रह्म या आत्मा की प्राप्ति होती है। उस समय मनुष्य जैसी कोशिश करता है वैसा ही बन भी जाता है।'

निश्छल कहोल का मुख प्रसन्नता से खिल उठा, राजा जनक भी याज्ञवल्क्य के इस समुचित उत्तर पर बोल पडे—'साधु महात्मन् याज्ञवल्क्य! साधु, आप जैसे विद्वान् ही इस प्रकार का उत्तर देने की क्षमता रखते हैं।' सारी विद्वन्मण्डली चुप हो गई, और याज्ञवल्क्य के शिष्यों का समूह प्रसन्नता से नाच उठा।

इस प्रकार थोडी देर तक ब्राह्मणों की मण्डली मे भारी सन्नाटा छा गया। याज्ञवल्क्य की विद्वत्ता ने मानों सब पर जादू की लकडी फेर दी, अब उस लम्बी भीड मे न कोई कुछ बोलता था और न इधर-उधर कानाफूसी ही करता था। फिर वचक्नु की पुत्री गार्गी और अरुण के पुत्र आरुणि उद्दालक ने भी याज्ञवल्क्य से अनेक गम्भीर प्रश्न किए, जो सब ब्रह्म और जीव से सम्बन्ध रखने वाले थे, परन्तु याज्ञवल्क्य ने उन सब का हँसते-हँसते ऐसा उत्तर दिया कि वे दोनों भी चुप हो गए।

वचक्नु की पुत्री गार्गी की प्रतिभा और विद्वत्ता की उस समय बड़ी प्रतिष्ठा थी, उसकी वाग्मिता और तर्कशैली के सामने बडे-बडे विद्वान् मूक हो जाते थे। सब को आशा थी कि याज्ञवल्क्य गार्गी को निरुत्तर नहीं कर सकते, किन्तु गार्गी को इस तरह चुप देख कर सब को बडा विस्मय हुआ। अब गार्गी के प्रशसकों से नही रहा गया और वे पुनः प्रश्न करने के लिए उसे बाध्य करने लगे। थोडी देर तक तो वह चुप रही फिर आगे बढ कर उन ब्राह्मणों मे बोली—'पूज्य ब्राह्मणो! इन याज्ञवल्क्य ने यद्यपि मेरे प्रथम प्रश्नों का उत्तर देकर मुझे चुप कर दिया है, किन्तु मै दो अमोघ प्रश्नो को अभी इनसे फिर पूछना चाहती हूँ। यदि उन दोनों प्रश्नो का उत्तर यह दे सके तो मै फिर यह मान लूँगी कि आप मे से कोई भी इस महान् पण्डित एव ब्रह्मवादी को नहीं जीत सकेंगे।'

ब्राह्मणों मे से जो प्रमुख थे सब ने एक स्वर से कहा—'गार्गी! तुम अपने उन दोनों प्रश्नों को अवश्य पूछो।'

गार्गी थोडी देर तक चुप रही फिर गम्भीर स्वर मे बोली—'हे याज्ञवल्क्य! जैसे वीरपुत्र विदेहराज या काशिराज युद्धक्षेत्र मे एकबार उतारी हुई डोरी वाले धनुष पर फिर से डोरी चढ़ाकर शत्रु को अत्यन्त पीडा पहुँचाने वाले दो बाणों को हाथ मे लेकर शत्रु के सामने खड़े होते हैं उसी प्रकार दो महान् प्रश्नों को लेकर मै आपके सामने खड़ी

हूँ। आप यदि सच्चे ब्रह्मवेत्ता हैं तो इन प्रश्नों का समुचित उत्तर दे कर मुझे सन्तुष्ट करें।'

याज्ञवल्क्य ने मुसकराते हुए कहा—'गार्गी! तुम दो नहीं चार छः प्रश्न पूछ सकती हो। याज्ञवल्क्य प्रश्नों से घबराने वाले नहीं हैं।'

गार्गी कुछ सहम-सी गई। फिर वाणी को कुछ गम्भीर बनाते हुए बोली—'याज्ञवल्क्य! जो इस ब्रह्माण्ड से ऊपर है और ब्रह्माण्ड से नीचे भी कहा जाता है, और जिसमें द्युलोक, पृथ्वी, भूत, वर्तमान, भविष्य सब ओतप्रोत हैं, वह क्या है?'

'वह सर्वव्यापी आकाश है।' सहज स्वर में याज्ञवल्क्य ने कहा।

इस सरल, सक्षिप्त और स्पष्ट उत्तर को सुनकर गार्गी बहुत प्रसन्न हुई। उसने कहा—'याज्ञवल्क्य! आपने मेरे इस प्रश्न का जो ऐसा सरल और स्पष्ट उत्तर दिया है उसके लिये मैं आप को नमस्कार करती हूँ। अब आप दूसरे प्रश्न के लिये तैयार हो जायें।'

याज्ञवल्क्य ने सरलता से कहा—'गार्गी! तुम पूछ सकती हो।'

गार्गी ने उसी अपने प्रश्न को और याज्ञवल्क्य के उत्तर को एक बार फिर दुहराया और उसी में तर्क करते हुए पूछा—'याज्ञवल्क्य! आप कह रहे हैं कि यह चराचर जगद्रूप सूत्रात्मा तीनों कालों में सर्वदा सर्वव्यापी एवं अन्तर्यामी आकाश में ओतप्रोत है तो मैं यह जानना चाहती हूँ कि वह आकाश किसमें ओतप्रोत है?'

याज्ञवल्क्य थोड़ी देर तक चुप रहे फिर गम्भीरतापूर्वक गार्गी की ओर दाहिना हाथ उठाकर बोले—'गार्गी! ब्रह्म के जाननेवाले उसको अक्षर अर्थात् अविनाशी कहते हैं। वह न स्थूल है न सूक्ष्म है। न छोटा है न बड़ा है। न अग्नि की तरह लाल है न जल की तरह पतला और तरल। उसमें न छाया है न तिमिर है। न वायु है, न आकाश है, वह एकदम असंग है। उसमें न रस है न गन्ध है। आँख, कान, वाणी, मन, तेज, प्राण, मुख एवं परिमाण भी उसमें नहीं हैं। न वह अन्दर है न बाहर है। वह स्वयं न तो कुछ खाता है और न कोई उसे ही खा

कता है। इस प्रकार वह ससार के सभी विशेषणों से नितान्त रहित है। गार्गी! उसी अक्षर की आज्ञा से सूर्य और चन्द्रमा अपने-अपने थान पर नियमित रूप से स्थित हैं। ध्रुवलोक और पृथ्वी की स्थिति भी उसी अक्षर की आज्ञा मूल कारण है। क्षण, घण्टे, दिन, ात, पक्ष, महीना, ऋतु, साल, सब अपने-अपने स्थान मे उसी के ानुशासन से स्थित हैं। हे गार्गी! यही नहीं, वह इतना महान् एवं हिमामय है कि उसी के गूढ अनुशासन से शासित नदियाँ वर्फीले र्वतों से निकल कर कुछ पूर्व की ओर बहती हैं और कुछ पश्चिम की ओर। हे गार्गी! उस परम नियन्ता अक्षर को विना जाने हुए जो लोग ्क सहस्र वर्ष तक होम, यज्ञ अथवा तपस्या करते हैं, उनके उन सब र्मों का फल विनाशशील होता है। उसको विना जाने हुए जो इस ोक से जाता है वह कभी दुःखों से छुटकारा नही पाता। और जो ली भाँति उसको जानकर इस लोक से प्रस्थान करता है वही सच्चा ाह्मण है।

'हे गार्गि! वह सुप्रसिद्ध अविनश्वर किसी को नही दिखाई पडता र वह सब को देखता है। उसकी आवाज को कोई सुन नही सकता र वह सब की आवाज सुनता है। उसे कोई जान नहीं सकता पर वह सब को जानता है। उसके सिवा इस ससार मे न कोई देखने वाला है न कोई सुनने वाला, न कोई समझने वाला है, न जानने वाला। हे विदुषि गार्गि! उसी अक्षर मे यह आकाश ताने-बाने की भाँति बुना हुआ है।"

महर्षि याज्ञवल्क्य के इस विस्तृत एव विलक्षण व्याख्यान को सुनकर गार्गी समेत सारी ब्राह्मण सभा सन्तुष्ट हो गई। राजा जनक प्रसन्नता से विह्वल होकर 'साधु साधु' करने लगे। थोडी देर बाद गार्गी गद्‌गद् कण्ठ से ब्राह्मणों की ओर हाथ उठाकर बोली—'हे पूज्य ब्राह्मणो! इस परम विद्वान एव ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य को सब नमस्कार करो। इसे पराजित करने की बात कल्पना से भी परे है।'

गार्गी की बात सुनकर सारी ब्राह्मण मण्डली अवाक् रह गई। किन्तु सकल के पुत्र शाकल्य से जिनका दूसरा नाम विदग्ध भी था, नहीं रहा गया। विद्वत्ता के नाते अपने शिष्यो मे उनकी खासी प्रतिष्ठा थी। भीड से आगे बढते हुए वे बोले—'याज्ञवल्क्य ! मैं तुमसे यह पूछना चाहता हूँ कि इस ससार मे देवता कुल कितने हैं, जिनकी मनुष्य को पूजा करनी चाहिए।'

याज्ञवल्क्य ने कुछ असन्तुष्ट होकर कहा—"विदग्ध इस संसार मे ३००३, ३०३, ३३, ६, ३, २, १½ और एक देवता माने जाते हैं। किन्तु वास्तव मे देवता तो ३३ ही हैं। ३००३ या ३०३ उनकी महिमा है। यह ३३ देवता इस प्रकार से हैं। ८ वसु गण, ११ रुद्रगण, १२ आदित्यगण, १ इन्द्र तथा १ प्रजापति। आठों वसुओं मे अग्नि, पृथ्वी, सूर्य, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र हैं। ग्यारह रुद्रो मे दस इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ) और एक मन है। बारह आदित्यों मे बारह महीनों की गणना है। इन्द्र वर्षा और गर्जन का देवता है तथा प्रजापति वृद्धि का। अन्य ६ देवताओं मे अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य और द्यौ की गणना है। ३ देवता तीनो लोक हैं, जिसमे सब देवता गण वास करते हैं, दूसरा देवता अग्नि और प्राण हैं। १½ देवता स्वय प्राण है, जो स्वय एक पदार्थ है और आधे मे सब के शरीर का अग भी है। १ देवता वह केवल प्राण या आत्मा है जो ब्रह्म भी कहा जाता है।

याज्ञवल्क्य के विचित्र तर्कपूर्ण उत्तर को सुनकर भी विदग्ध चुप नही हुए, उन्होंने जान बूझकर परेशान करने की नीयत से कई इधर उधर के भी प्रश्न किए। याज्ञवल्क्य सब का यथोचित उत्तर देते गए, पर जब उन्होंने देखा कि विदग्ध चुप होना नहीं चाहते तो अन्त मे रुष्ट होकर कहा—'विदग्ध ! अब मै तुमसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ, यदि तुम इसका यथोचित उत्तर नही दोगे तो तुम्हारा शिर धड से अलग हो जायगा।'

गर्वोन्मत्त विदग्ध ने कहा—'याज्ञवल्क्य ! तुम जैसा चाहो वैसा प्रश्न कर सकते हो !'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'विदग्ध ! जिन देवताओं के बारे मे तुमने अभी पूछा है क्या बतला सकते हो कि कोई ऐसा भी पुरुष है, जो इन देवताओं से परे है।'

विदग्ध कोई उत्तर नही दे सके। भय के मारे उनका मुख विवर्ण हो गया, ललाट से पसीना चूने लगा और पैर काँपने लगे। देखते ही ही देखते विशाल ब्राह्मण मण्डली के सामने विदग्ध का शिर नीचे गिर कर नाचने लगा और धड़ थोडी देर तक छट-पटाकर राजा जनक के सामने से दौडता हुआ याज्ञवल्क्य के चरणों के समीप जा कर गिर पडा।

याज्ञवल्क्य के ज्ञान और तेज के इस अद्भुत चमत्कार को देख कर सारी भीड सहम गई। स्वय राजा जनक भी उनके तेज से आतंकित हो गए। तदन्तर याज्ञवल्क्य ने फिर ब्राह्मणो को सबोधित कर कहा—'आप लोगों मे से कोई एक या सब मिल कर मुझसे यदि कोई प्रश्न करना चाहे तो कर सकते हैं।' किन्तु किसी को याज्ञवल्क्य से प्रश्न करने का साहस नही हुआ। चारों ओर से याज्ञवल्क्य की जय जय कार की ध्वनि होने लगी। उन का मुखमण्डल तेज की अधिकता से ज्येष्ठ के सूर्य की भाँति प्रदीप्त हो उठा। उधर गार्गी का चेहरा भी प्रसन्नता से खिल उठा।

तदनन्तर राजा जनक ने महर्षि याज्ञवल्क्य की बडी प्रशसा की और बडे आदर सत्कार के साथ उन्हे और अधिक दक्षिणा देकर सम्मान के साथ विदा किया। सभी विद्वान् ऋषि मुनि एवं महात्मा जन भी याज्ञवल्क्य की विद्वत्ता तथा ब्रह्मनिष्ठा की प्रशसा करते हुए अपने-अपने शिष्यों के साथ आश्रम को पधारे। अभागे विदग्ध के शिर और धड़ को लेकर उनके शिष्यों ने अन्तिम संस्कार सम्पन्न किया और फिर

शुद्ध मन से याज्ञवल्क्य के पास ज़ाकर उनकी शिष्यता ग्रहण करने का विचार पक्का किया।[1]

---

[1]वृहदारण्यक उपनिषद् से

# याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी

[ ८ ]

महर्षि याज्ञवल्क्य की विद्वत्ता की चर्चा इस के पहले बतला चुके हैं। उनकी तेजस्विता के बारे मे भी बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार जनक की सभा मे उनके प्रश्नों का उत्तर न देने के कारण गर्वोन्मत्त विदग्ध का शिर धड से अलग हो गया था। याज्ञवल्क्य की चर्चा रामायण आदि में भी आई है, उनकी बनाई हुई स्मृति का आदर आज भी मानव समाज मे होता है। इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि वे अपने समय के बे-जोड़ पण्डित और ब्रह्मज्ञानी थे। बड़े बड़े ऋषियो मुनियों से लेकर राजाओं के दरबारो तक मे उनकी विद्वत्ता की पूजा होती थी। मिथिला के राजा जनक के यहाँ तो उनका बहुत सम्मान होता था। परम ज्ञानी राजा ने स्वय याज्ञवल्क्य से ही दीक्षा ग्रहण की थी।

उन महर्षि याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियाँ थीं। एक का नाम था मैत्रेयी और दूसरी का कात्यायनी। वे भी परम विदुषी और पति की सेवा में सदा तत्पर रहने वाली थीं। महर्षि याज्ञवल्क्य के सफल एव सुखी जीवन में उनकी इन दोनों अर्द्धांगिनियों का प्रमुख हाथ था। वे उनके

आश्रम का सारा काम सँभालती थी और शिष्यों को पढाने लिखाने मे भी सहायता पहुँचाती थी। आश्रम मे कहाँ क्या हो रहा है, कहाँ मे कौन सामान आयेगा, आज किस निर्बल विद्यार्थी को किस सबल विद्यार्थी ने अकारण पीटा है, इन सब बातों का वे दोनों पूरा पता रखती थीं और आवश्यकता के अनुसार सब की उचित व्यवस्था भी रखती थी। इन्ही सब झझटो मे फुर्सत पाकर महर्षि याज्ञवल्क्य अपने शास्त्र-चिन्तन मे रात दिन लगे रहते थे। विद्यार्थियों को पढाने लिखाने से जो कुछ समय बचता था उसे वे ब्रह्म-चिन्तन वा आत्मानुशीलन मे लगाते थे। इसी का यह परिणाम था कि उनके समान थोड़ी ही अवस्था मे उनके जितना बड़ा विद्वान् कोई दूसरा आचार्य नहीं हुआ।

मैत्रेयी और कात्यायनी यद्यपि दोनो ही समान रूप से गुणशालिनी तथा सदाचारिणी थी और तन मन से पति की सेवा मे लगी रहती थीं, पर कात्यायनी को अपने मनोहर रूप तथा यौवन की भी थोडी चिन्ता रहती थी। दिन रात के बीच मे थोड़ा समय बचाकर वह अपने सुन्दर शरीर की भी सजावट आदि एक बार कर लेती थीं और इस बात का सदा खयाल रखती थीं कि कहीं वेश-भूषा या सजावट मे कोई कमी तो नही है। महर्षि याज्ञवल्क्य का स्नेह दोनो पत्नियों पर समान था। वे कात्यायनी के श्रृंगार सौन्दर्य या यौवन के प्रति कभी आसक्त नही थे। मैत्रेयी भी सदा छोटी बहन के समान कात्या-यनी से स्नेह रखती थी, उसके श्रृगार सजाव को लेकर उनके मन मे कभी कोई दुर्भाव पैदा नहीं हुआ।

धीरे-धीरे जवानी के दिन बीत गये। महर्षि याज्ञवल्क्य का शरीर शिथिल होने लगा। भ्रमर के समान काले बाल पककर सन हो गये और तेजस्वी मुख मण्डल मे झुरियाँ पड गई। नेत्रों की ज्योति मन्द पड़ गई और हाथ-पाँव थोडे ही श्रम से दुखने लगे। जहाँ रात दिन छात्रों को पढाने लिखाने और दूर दूर के यज्ञ हवनादि मे सम्मिलित होने का उत्साह हृदय मे छलकता रहता था वहाँ ससार की असारता

देखकर विराग के घने बादल छा गये। इन्द्रियों के साथ मन भी शिथिल हो गया। अब शास्त्रीय वाद-विवादों या शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा जाने कहाँ विलीन हो गई। मैत्रेयी और कात्यायनी के शरीर का भी यही हाल हुआ। याज्ञवल्क्य के समान मैत्रेयी भी संसार के ऐहिक सुखों से विरक्त होने लगी। घर-गृहस्थी या आश्रम की उतनी चिन्ता नहीं रह गई। शरीर की ओर थोड़ी बहुत चिन्ता जो जवानी में थी भी वह और भी समाप्त हो गई। रात-दिन के बीच में ब्रह्म का ध्यान करने के अतिरिक्त जो कुछ समय बचता वह पति की सेवा और आश्रम के शिष्यों की देख रेख में वह लगातीं। चौबीस घण्टे में एक बार खातीं और मुश्किल से चार घण्टे सोतीं। पर कात्यायनी का कुछ दूसरा ही हाल था। शरीर के सब अंग यद्यपि शिथिल हो गये थे; पर सांसारिक विषय भोगों से उनका मन भरा नहीं था बल्कि कहना यह चाहिये कि वह उत्तरोत्तर सांसारिक विषयों की ओर अधिकाधिक खिंचती चली गईं। मैत्रेयी की देखादेखी वह थोड़ी देर तक यदि आश्रम के कामों में लगी रहतीं या ईश्वर का ध्यान करतीं तो अधिक देर तक सोतीं और विश्राम करतीं। वृद्धावस्था को छिपाने के लिये उन्हें शृंगारों की शरण लेनी पड़ती। याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी की विरक्ति पर वह मन ही मन कुढ़तीं कि पता नहीं इन दोनों का शिर क्यों इस तरह फिर गया है?

× ×

एक दिन सायंकाल महर्षि याज्ञवल्क्य जलाशय से संध्या आदि से निवृत्त होकर वापस लौट रहे थे कि बीच मार्ग में मैत्रेयी मिल गईं। याज्ञवल्क्य का मन बहुत भारी था, आश्रम के झंझटों से वे बहुत खिन्न हो गये थे। मैत्रेयी को बुलाकर उन्होंने कहा—'सहचरि! मेरा मन अब गृहस्थी से भर गया है। हृदय में आश्रम संभालने का उत्साह अब नहीं है। मैं गृहस्थाश्रम छोड़ कर सन्यास ग्रहण करना चाहता हूँ। तुम्हारी इस विषय में क्या राय है?'

मैत्रेयी मुनि की मुख मुद्रा से परिचित हो गई थीं। इधर उन्हे भी गृहस्थी के कार्यो से विरक्ति-सी हो चली थी। इसी को निवेदन करने के लिये वह बीच मार्ग मे पहले ही से खड़ी हुई थीं। अतः याज्ञवल्क्य की बाते सुनकर उन्हे कोई विस्मय नही हुआ, पीछे पीछे चलती हुई विनम्र स्वर मे वह बोली—'देव! गृहस्थाश्रम से सन्यास ग्रहण करने की बात तो सही है, पर आश्रम कौन चलाएगा? देश देश के सहस्रों ब्राह्मणकुमार आप के भरासे घर द्वार छोडकर जो यहाँ आए हुए हैं, उनका पठन-पाठन एकदम बन्द हो जायगा। आप के बाद आश्रम बन्द हो जाने से देश की बहुत बडी हानि होगी, क्या इस बात पर भी कभी आपने विचार किया है।'

याज्ञवल्क्य ने पथ पर चलते हुए कहा—'मैत्रैयी! आश्रम की चिन्ता ने हीं मुझे अब तक बाँध रखा हैं, तुम कैसे जानती हो कि मैंने इस पर कभी विचार नहीं किया है?'

मैत्रैयी बोली—'तो फिर आप के सन्यास ग्रहण कर लेने पर आश्रम कौन चलएगा?'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'हारीत की योग्यता अब ऐसी हो गई है कि मेरे न रहने पर वह आश्रम का सब काम काज सभाल लेगा।'

यह बाते कहते-कहते याज्ञवल्क्य आश्रम के द्वार पर पहुँच गए जहाँ बैठकर कात्यायनी भी नीवारों को पोटकर चावल निकाल रही थीं।

याज्ञवल्क्य कुशासन पर बैठ गए, मैत्रैयी आश्रम मे चली गई और कात्यायनी सूर्यास्त हो जाने के कारण दीवठ से दीपक उठाकर जलाने के लिए भीतर चली गई। थोडी देर तक आश्रम मे नीरवता छाई रही फिर याजवल्क्य ने मैत्रैयी को अपने पास बुलाया और बैठने का इशारा कर थोड़ी देर तक मौन रहने के बाद कहा—'सहधर्मिणि! सचमुच मेरा मन विरक्ति से भर गया है और अब मैने गृहस्थाश्रम को छोडकर सन्यास ग्रहण करने का निश्चय पक्का कर लिया है। इसलिए मै चाहता हूँ कि घर की सारी सम्पत्ति तुम दोनों में अपने सामने ही

आधी-आधी बाट दूँ जिससे तुम दोनों में आपस मे कोई झगड़ा-झंझट न हो क्योंकि कात्यायनी का स्वभाव कुछ रूखा और स्वार्थी है।

याज्ञवल्क्य की बाते सुन कर भी मैत्रैयी चुप बनी रहीं। वह सोचने लगीं कि 'मनुष्य अपने पास की किसी भी वस्तु को छोडने के लिए तभी तैयार होता है जब उसको पहले की अपेक्षा कोई अधिक अच्छी वस्तु मिल जाती है। बिना अधिक पाने की आशा से कोई निकृष्ट वस्तु छोडने के लिए भी तैयार नही होता। महर्पि घर-बार एव इतनी सासारिक वैभव-प्रतिष्ठा को छोड़कर जो सन्यास ले रहे हैं तो इन्हें इससे भी कोई अधिक मूल्यवान् वस्तु मिलने की आशा होगी। उस अमूल्य वस्तु के सामने ये सासारिक वैभव एव घर बार को अति तुच्छ समझने होंगे तभी तो सब कुछ छोडने के लिए तैयार हुए हैं। वह अमूल्य वस्तु ऐसी कौन-सी है, जो इनके समान विद्वान् एव पारदर्शी मे भी लालच पैदा कर रही है। निश्चय ही वह ससार के दुःख-द्वन्द्वों से मुक्ति दिलानेवाली वस्तु होगी क्योंकि ये रात दिन उसी चिन्ता में लगे रहते थे। मुझे लगता है कि बहुत दिनों के चिन्तन के बाद ये इसी निश्चय पर पहुँचे हैं कि उस परम तत्व के पाए बिना वास्तविक सुख शान्ति एव सन्तोप नहीं मिल सकता। वह परम तत्व अमरत्व ही है कुछ दूसरा नहीं क्योंकि बातचीत के प्रसग में इन्होंने कई बार उस अमरत्व की बडी प्रशसा की है। वह अमरत्व क्या है ! यही जो इन्द्रादि देवताओं को मिला है। नहीं, यह तो नहीं हैं, इन्द्रादि को भी कहाँ सच्ची सुख-शान्ति मिली है। रात-दिन असुरों के भय से जिसे ठीक नींद नहीं आती वह सच्चा अमर नहीं है। सच्ची अमरता तो उस परमात्मा के पाने मे है जिसके लिए सारा ससार व्याकुल रहता है। निश्चय ही प्राणपति उसी परमात्मा को प्राप्त करानेवाली अमरता के लिए ससार के वैभवों को तिरस्कृत करने को तैयार हुए हैं।' इस तरह मन ही मन बड़ी देर तक मैत्रैयी गुनती रहीं। याज्ञवल्क्य को उनका न टूटनेवाला मौन खल गया। वे फिर बोले—'गृहिणि ! क्या तुम इसके लिए तैयार नहीं

हो कि गृहस्थी का सब सामान आधा-आधा बाँट दिया जाय। यदि तुम समझती हो कि मेरे चले जाने के बाद कात्यायनी के साथ तुम्हारी ठीक पट जायगी और कभी कोई झंझट नही उठेगा तो बाँटने की काई जरूरत भी नही है। पर मुझे अन्देशा है कि कात्यायनी इस पर राजी न होगी।'

मैत्रेयी चुप नहीं रह सकी। हाथ जोड़कर विनीत स्वर में बोली—'महर्षे! क्या आप उसी अमरता को प्राप्त करने के लिए इस गृहस्थाश्रम को छोड़ रहे हैं जिसकी चर्चा पहले किया करते थे।'

याज्ञवल्क्य मुसकराये। थोडी देर तक मैत्रेयी की ओर विस्मित नेत्रों से ताकने के बाद दाहिना हाथ उठाकर बोले—'हाँ, तुम्हारा अनुमान ठीक है, मैं उसी अमरत्व की उपासना के लिए ही इस गृहस्थी को छोड़ रहा हूँ, क्योंकि इन सासारिक झंझटों के बीच मे रहकर कोई उसकी सच्ची उपासना नहीं कर सकता।'

मैत्रेयी अपनी सहज गम्भीरता को छोड नही सकीं। याज्ञवल्क्य की उक्त बातों ने उनके निर्मल मानस मे एक नई जिज्ञासा की भावना पैदा कर दी। हाथ जोडकर वह पुनः बोलीं—'देव! क्या मुझे उस अमरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। मुझे यदि धन धान्य से परिपूर्ण यह सारी पृथ्वी मिल जाय तो क्या उसके द्वारा मैं अमरत्व की प्राप्ति कर सकती हूँ।'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'नही, कदापि नही। धन-धान्य समेत पृथ्वी की प्राप्ति से तुम धनिक बन सकती हो, सासारिक भोग विलासों से भरा हुआ अतृप्त जीवन बिता सकती हो; पर उसके द्वारा अमरत्व की प्राप्ति तो कभी नहीं हो सकती।'

मैत्रेयी तुरन्त बोल उठीं—'महर्षे! जिस धन धान्य से मुझे उस अमरत्व की प्राप्ति कदापि नही होगी, जिसके लिए आप को यह घर बार तृण जैसा तुच्छ मालूम हो रहा है और बडी प्रसन्नता से आप सब का त्याग कर रहे हैं तो भला उसी धन धान्य को बाँट कर आप मुझे

क्यों देना चाहते हैं ? क्या आप मुझे उस अमूल्य निधि से वञ्चित रखना चाहते हैं जिसके लिए स्वय इतना वडा त्याग करने जा रहे हैं।'

याज्ञवल्क्य गम्भीर वन गए। थोडी देर तक चुप रहने के बाद बोले—'मैत्रेयी ! तू मेरी सच्ची सहधर्मिणी है। मै तुझे उस अमूल्य निधि से वञ्चित रखना नहीं चाहता। पर मै यह भी नहीं चाहता कि जबर्दस्ती से अपना विचार या निश्चय तुझ पर लाद दू।'

मैत्रेयी ने कहा—'देव ! यदि आप मुझे अपनी सच्ची सहधर्मिणी मानते हैं तो वह प्रश्न उठता ही नहीं कि आप के विचार या निश्चय मुझे भार के सामान मालूम पड़े। मै तो अपनी श्रद्धा और भक्ति से आप के आदेशों का सदा पालन करती आई हूँ। और फिर उस अमरत्व की प्राप्ति के लिए तो मै स्वत: लालायित हूँ, जिसके लिए आप जैसे विद्वान एव पारदर्शी इतने उत्सुक हो रहे हैं। देव ! मुझे इन सासारिक वैभवों के भोग की स्वप्न मे भी आकाक्षा नहीं है। मैं चाहती हूँ केवल आप के कमलचरणो की सुखद छाया और वही मेरे जीवन की परम साधना है। मुझे विश्वास है कि मै उसी मे बैठकर उस परमतत्त्व अमरत्व की प्राप्ति भी कर सकूँगी।'

मैत्रेयी के सुधावर्षी मुखचन्द्र की ओर महर्षि याज्ञवल्क्य के दोनों नेत्र चकोर की भाँति निर्निमेष वन गए। मृदग के गम्भीर स्वर के समान मैत्रेयी के शब्द उनके कानो को परम सुख देते हुए शुभ्र हृदय पर अकित हो गए। उनकी निर्मल अन्तरात्मा से वास्तविक आनन्द का अविरल स्रोत फूट पडा। रोमावलि खडी हो गई पर कम्बुकण्ठ मे स्निग्धता व्याप्त हो गई। मैत्रेयी की नि स्वार्थ सेवा का चिर जीवन आज मूर्तमान होकर उन्हे पहली बार दिखाई पडा। आश्रम के बाहर चाँदनी की चादर बिछ रही थी, याज्ञवल्क्य ने समझा यह मैत्रेयी की सेवा का स्थूल शुभ्र रूप ही है, जो अपनी महिमामयी धवलिमा में दिगन्त को डुबो रही है। थोड़ी देर तक वे इस परमानन्द मे डूबते-उतराते रहे फिर साहसपूर्वक गद्गद स्वर मे बोले—'मैत्रयि !

पहले भी तुझे मैं हृदय मे कात्यायनी से अधिक मानता था और इस अनीति मे अपनी समदर्शिता के ढोंग को मन ही मन उतार देता था, पर आज तेरे इन अमृतोपम वाक्यों से मेरे मन मे तेरा वह प्रेम बहुत अधिक बढ गया है। तू वास्तव मे देवी है। तू यहाँ मेरे समीप आ जा, मै तुझे उस अमरत्व का उपदेश करूँगा। मेरी बातो को भली भाँति सुन कर उनका मनन कर।'

मैत्रेयी धन्य हो गई और हाथ जोड़कर महर्षि याज्ञवल्क्य के चरणों पर गिर पड़ी। उसकी आँखो से प्रेम के मोती निकल पड़े। वृद्ध याज्ञवल्क्य ने अपनी सशक्त बाहुओ से उठाकर उसे गले लगा लिया और सम्मान पूर्वक बैठाकर प्रियतम रूप से आत्मा का वर्णन आरम्भ करते हुए कहा—'मैत्रेयि! पति की कामनाओं से स्त्रियों को पति प्रियतम नहीं होता प्रत्युत आत्मा की कामनाओं या प्रयोजनों के लिए प्रियतम होता है। इसी तरह पुरुषों को स्त्रियों की कामनाओं से स्त्री प्रियतमा नहीं होती वरन् आत्मा की कामनाओं से होती है। हे प्रिये! यहाँ पर मैने आत्मा की कामनाओं से प्रियतम या प्रियतमा होने की जो बात कही है, उसे जरा ध्यान देकर समझो, कुछ अटपटी बात है।'

मैत्रेयी बोली—'महर्षे! मेरी समझ मे भी यह बात नहीं बैठ रही है। यहाँ आत्मा की कामनाओ से आप का तात्पर्य अपने शरीर की कामनाओं से तो नहीं है? किन्तु आत्मा तो शरीर है नहीं। वह तो एक निराली ही वस्तु है, जिसका कभी नाश नहीं होता शरीर तो क्षण भर मे नष्ट होने वाली वस्तु है। मै जानना चाहती हूँ कि वह आत्मा क्या है?'

याज्ञवल्क्य ने दाहिना हाथ उठाकर कहा—'मैत्रेयि! बहुत से लोग आत्मा का मतलब शरीर से समझते हैं, वे मूर्ख यह मानते हैं कि यह शरीर ही आत्मा है और इसी निश्चय पर वे रात दिन पेट पूजा और भोग विलास में लगे रहते हैं। और कुछ कहते हैं कि जब तक

शरीर के भीतर जीव है, तभी तक ससार है मरने के बाद कुछ नहीं है, इसलिए यहाँ इसे जितना भी आराम पहुँचाया जा सके, ठीक है। ऐसे लोग परलोक नही मानते अर्थात् मरने के बाद आत्मा समाप्त हो जाती है, वे यही कहते हैं, और उसी विनश्वर आत्मा के लिए वास्तविक आत्मा का मतलब निकालते हैं। पर बात बिल्कुल दूसरी है। यहाँ आत्मा से मतलब आत्मा के लिए है अर्थात् जिस वस्तु या जिस सम्बन्धी से अपनी आत्मा की उन्नति हो, आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान सके वही सबसे अधिक ससार में प्रिय है। इसीलिए कहा भी गया है कि 'आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्' अर्थात् अपने उद्धार के लिए मनुष्य को यदि पृथ्वी भी छोडनी पडे तो छोड दे। हे मैत्रैयि! इस विशाल संसार मे जो कुछ भी वस्तुएँ हैं वे सब आत्मा की कामनाओं या प्रयोजनों के लिए ही प्रिय हैं। यह अपनी आत्मा ही संसार की समस्त प्रिय वस्तुओं का आधार है, ससार का सारा प्रेम इसी के भीतर छिपा हुआ है, इस लिए वास्तव मे यही सब से अधिक दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और निरन्तर ध्यान करने योग्य है। प्रिये! इसी के दर्शन, श्रवण, मनन, चिन्तन और साक्षात्कार से संसार में सब कुछ जाना जा सकता है। यही सब से श्रेष्ठ ज्ञान है।

मैत्रैयी आत्मा की इस महान् शक्ति की बाते सुनकर विस्मित हो रही थी। आज तक उसके ध्यान मे ब्रह्म का दूसरा ही रूप विराज रहा था। आत्मा को छोडकर ब्रह्म के पीछे ही उसकी सारी साधना लगी थी। याज्ञवल्क्य की इस नवीन व्याख्या से उसकी चिन्तन शक्ति व्याकुल हो गई। बीच ही मे हाथ जोडकर बोल पडी—'देव! आज तक मैने ब्रह्म ही को ससार मे सब का आधार माना था, और ससार की समस्त प्रिय वस्तुओं का आधार भी उसी ब्रह्म में मानती थी और सर्वत्र अग जग में उसी को ढूँढ़ती भी थी। तो क्या इतने दिनों की मेरी सारी साधना निष्फल रही?'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'मैत्रेयि ! नहीं, तुम्हारी साधना निष्फल नहीं रही। पर आत्मा को छोड़कर बाहरी ससार मे जो ब्रह्म के ढूँढने का उपक्रम करता है, वह ब्रह्म से दूर हो जाता है। यह आत्मा स्वय ब्रह्म है और ब्रह्म जगत्स्वरूप है अर्थात् जगत् की समस्त वस्तुएँ ब्रह्ममय हैं इसलिए इसी आत्मा मे ही सब जगत् को ढूँढना चाहिए। आकाश, पाताल, पृथिवी, पहाड़, नदी, नद, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल, वेद, शास्त्र, देव, असुर, अर्थात् सभी चराचर जीव आत्मा है ? अतः जो आत्मा को छोड़कर बाहर इनको ढूँढने का प्रयास करता है वह इन सब से दूर हो जाता है। सुनो, इसे उदाहरण देकर समझाते हैं। जैसे—जब ढोल या मृदंग बजाया जाता है तो हम कोई भी उसकी बाहरी आवाज को नहीं पकड़ सकते उसे तभी पकड सकते हैं जब कि ढोल या ढोल बजानेवाले को पकड लेवे उसी तरह इस आत्मा से ही ऊपर की सभी वस्तुओं का जन्म होता है, जब हम सब के जनक आत्मा को पकड़ेंगे तभी सब को पकड सकते हैं। हे प्रिये ! जैसे गीले इन्धन से अनेक धाराओं मे धूएँ निकलते हैं उसी तरह इस महान् आत्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद एव अन्यान्य विद्याएँ निकलती हैं। उसी को प्राप्त करने के बाद सब की प्राप्ति हो सकती है।'

मैत्रेयी ने कहा—'महर्षे ! क्या उस आत्मा मे इन जीवादिकों की पृथक सत्ता का कोई पता लग सकता है ?'

याज्ञवल्क्य बोले—'मैत्रेयि ! जैसे नमक का एक टुकडा पानी मे पडकर उसी मे मिल जाता है और उसको पानी से अलग नहीं कर सकते, किन्तु जहाँ कहीं से भी जल को ले उसमे नमक होता ही है, उसी प्रकार इस महान् आत्मा मे सब जीवादि मिल जाते हैं, उसके बाद उनका कोई पृथक नामनिशान नहीं रहता। यह आत्मा अनन्त अपार और विज्ञानमय है सभी जीवादि इसी मे से निकलते और अन्त मे समाविष्ट हो जाते हैं।'

मैत्रेयी बोली—'भगवन् ! आप जो यह कह रहे हैं कि सभी

जीवादि इस आत्मा मे मिलने के बाद अपनी पृथक सत्ता नहीं रखते। उनके नाम निशान सदा के लिए मिट जाते हैं, यह सुनकर मैं बहुत चकरा गई हूँ, कृपया मुझे ऐसी बातें बतला कर मोहित न करें।'

याज्ञवल्क्य ने गम्भीरता से कहा—'प्रिये ! मैने तुम्हे मोहित करने के लिए यह सब नहीं कहा है, यह सारी बाते तुम्हें जाननी चाहिएँ। देखो, जब तक मन मे इस आत्मा के साथ एकता का भाव नहीं जाग जाता, तभी तक प्राणी अपने से भिन्न एक दूसरे को देखता है, एक दूसरे को सूँघता है, एक दूसरे को चखता है, एक दूसरे से बोलता है, एक दूसरे की सुनता है, एक दूसरे पर मनन करता है, एक दूसरे को छूता है और एक दूसरे को जानता है, पर जहाँ सब मे आत्मा का ज्ञान हो जाता है, अर्थात् सब मे सर्वात्मभाव जाग उठता है, अपने मे एकत्व की धारणा हो जाती है तब संसार की समस्त वस्तुएँ आत्मा ही हैं, ऐसी प्रतीति होने लगती है और दूसरे को देखने, सूँघने, चखने, बोलने, सुनने, मनन करने, छूने, और जानने का सवाल ही नहीं उठता। हे प्रिये ! यह आत्मा सच समझो कि अवर्णनीय है, इसका वर्णन 'नेति नेति' अर्थात् 'यह नहीं, ऐसा नही' कहकर किया जाता है। यह अग्राह्य है अर्थात् इसको ठीक-ठीक से कोई पकड नहीं सकता, यह अशीर्य है, अर्थात् कभी शीर्ण (पुराना) नही होता, असग है, अर्थात् कभी किसी मे आसक्त नहीं होता, बन्धन रहित है, अर्थात् कभी दु:खी नहीं होता। यही समझो। आत्मा के सम्बन्ध मे इस से बढकर ज्ञान प्राप्त करने की तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे लिए मेरा यही उपदेश है और यही सच्ची मुक्ति को प्राप्त करने का महान् साधन है।'

मैत्रेयी महर्षि याज्ञवल्क्य के इस उपदेशामृत का पान करके धन्य हो गईं। वह अमर बन गईं, संसार की व्याधियों का भय उनमे सदा के लिये दूर हो गया। कात्यायनी खडी-खडी याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के इस अटपटे संवाद को देर से सुन रही थीं; पर उनकी समझ

मैं आत्मा की इस महत्ता का बोध केवल इतना ही हुआ कि घंटों से होने वाली बकझक को बन्द करने के लिये बीच में रूखे स्वर से बोल पड़ीं—'बहिन ! आप को ध्यान नहीं है कि रात हो गई और अभी तक कल के लिये तण्डुल का प्रबन्ध नहीं हुआ ।'

याज्ञवल्क्य मुसकराये। मैत्रेयी अनमनी खड़ी रहीं। कात्यायिनी को इतनी समझ आ गई कि मैत्रेयी को कोई उत्तर देता न देख दीवट की आड़ से भीतर चली गई। बाहर आश्रम के मृग शावकों की मण्डली आनन्ददायिनी निर्मल चाँदनी रात का आनन्द लूट रही थी। थोड़ी दूर पर छात्रों की शाला से वेद ध्वनि के सामूहिक अस्फुट स्वर गुंजन बन कर शीतल मंद सुगंध पवन के साथ वातावरण को संगीत-मय कर रहे थे। याज्ञवल्क्य बोले—'मैत्रेयि ! कल प्रातः काल ही हमारे आश्रम को सन्यस्त करने की शुभ घड़ी होगी। अब तुम क्या चाहती हो ?'

मैत्रेयी को अब विकल्प कहाँ था। उसने विनत स्वर में कहा—'आराध्यचरण ! मैं आप के मार्ग में कंटक नहीं बनूँगी। मेरी चाह है कि मैं पुष्प की एक कली बन कर आप के पावन चरणों की रज से अपने को धन्य बना लूँ। अब मुझे जगत् में कामनाओं की माला गूँथने की आकांक्षा नहीं है। मैं भी वहीं रहूँगी, जहाँ आप के सुखद साहचर्य का अमूल्य क्षण मिलेगा।'[1]

---

[1] वृहदारण्यक से

# वैश्वानर की खोज में

[ ६ ]

वहुत पुरानी वात है। इसी हमारे देश मे पाच वहुत वडे कुलपति रहते थे। कुलपति उन्हें कहते हैं जो हजारों विद्यार्थियो के भोजन वस्त्र का स्वयं प्रवन्ध रखते थे और उन्हें पढा लिखा कर पचीस वर्ष की उमर तक सभी शास्त्रों मे पण्डित वना देते थे। आज कल की तरह न तो छात्रो से पढ़ाई की फीस ली जाती थी और न भोजन आदि का कोई खर्चा रहता था। वडे-वडे राजा महाराजा उन कुलपतियों की हर एक तरह से सहायता तो करते ही थे, दूर दूर देहात तक मे गृहस्थों के घर से उन विद्यार्थियों के लिए भोजन मिलता था। एक एक कुलपति के पास दस-दस हजार विद्यार्थी रहते थे। जिन पाचों कुलपतियों की कथा हम वता रहे हैं वे अपने समय के महान कुलपति थे। उनका दूसरा नाम महाशाल था, जिसका अर्थ होता है असख्य विद्यार्थियों वाली पाठशाला के कुलपति। उन पाचों कुलपतियों का नाम इस प्रकार था। उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल, पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लव के पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष के पुत्र जन और अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल। ये सव वेदों के वहुत वड़े पण्डित तो थे ही

साथ ही बहुत बड़े गृहस्थ और गौओं के स्वामी भी थे।

जब कभी कोई त्यौहार या पर्व पड़ता तब ये पाचों कुलपति एक जगह पर एकत्र होते थे और उन उन विषयों पर चर्चा करते थे जिन पर किसी को कुछ सन्देह रहता था या जनता मे जिसकी बहुत बडी जरूरत होती थी। इसी प्रसग मे एक बार ये पाँचों कुलपति इकट्ठे हुए थे और शास्त्रों की चर्चा चल रही थी कि एक सत्तर साल का बुड्टा गृहस्थ, जो देखने मे वैश्य मालूम पडता था, उनकी सभा मे आया और आदर सहित हाथ जोडकर बोला—'पण्डितो! मेरे मन मे आत्मा क्या है और ब्रह्म क्या है, इस बात को लेकर बहुत बडा सन्देह फैला है। शास्त्रों की पुस्तकों मे बहुत कुछ लिखा गया है मगर उससे वास्तविक सन्तोष नही होता और न वे सारी की सारी बातें मेरी समझ मे ही आती हैं। आप सब हमारे देश के विख्यात पण्डित यहाँ इकट्ठे हुए हैं ऐसा सयोग फिर कभी नहीं मिलेगा, यही सोचकर मै आया हुआ हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि एक अबोध बच्चे की भाति मुझे सब तरह से अयोग्य समझ कर मेरी इस शका का निराकरण करे।'

कुलपतियो की गोष्ठी मे थोडी देर के लिए सन्नाटा दौड गया, सभी एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। जिज्ञासु वैश्य भक्ति भाव से विनीत मुद्रा मे बैठ गया। उसके उत्सुक हृदय मे हर्ष के हिलोरे उठने लगे और कान कुलपतियों के वचनामृत को पान करने के लिए तैयार हो गए। पर कुलपति गण अभी तक मौन भाव से एक दूसरे के उत्तर देने का मौका ढूँढ रहे थे। परिणाम यह हुआ कि बडी देर तक सब के सब चुप बने रहे। अन्त मे उमर मे सब से ज्येष्ठ उपमन्यु के पुत्र आचार्य प्रचीनशाल ने कहा—'भद्र! ब्रह्म और आत्मा ससार के जर्रे जर्रे मे छिपा हुआ है। उसको अच्छी तरह से समझने की जरूरत है। अच्छा होगा कि आप किसी दूसरे दिन फ़ुर्सत से आवे, अभी हम लोग एक दूसरे विषय पर विचार कर रहे है, जिस पर कोई निर्णय नहीं हुआ है। उससे अवकाश पाकर आप को खुद बुलाएँगे;

इस समय क्षमा कीजिए !'

जिज्ञासु वैश्य उठकर खड़ा हो गया और हाथ जोड़कर बोला—'महात्मन् ! मेरी अशिष्टता को क्षमा कीजिए, मै जा रहा हूँ और जब आप फुर्सत पायें मुझे बुला ले । मेरा घर यहाँ से बहुत दूर नहीं है, आज्ञा पाते ही फिर सेवा मे उपस्थित होऊँगा ।'

कुलपतियों की एक बला टली । यों किसी विद्यार्थी या पडित को ब्रह्म या आत्मा के विषय मे समझाने के लिए उन्हे कुछ भी सोचना नहीं पडता था, वेदों और शास्त्रो के वचनों की व्याख्या करके उसे सन्तुष्ट कर सकते थे मगर आज एक ऐसे व्यक्ति से काम आ पडा था जिसके लिए शास्त्रों की व्याख्या ही कारगर नही हो सकती थी, उसे खूब समझा-बुझा कर सन्तुष्ट करना था, उसकी हर एक दलीलों का उचित समाधान करना था । वैश्य के चले जाने पर कुलपतियों की गोष्ठी मे ब्रह्म-और आत्मा के विषय मे विचार शुरू हो गया और अपनी-अपनी सूझ बूझ और स्मरण शक्ति से सब विचार करने मे प्रवृत्त हो गये । किन्तु दिन भर बीत जाने के बाद भी सब उलझे पडे रहे, नई नई शकाएँ उठती गईं और शास्त्रों के सैद्धान्तिक वचनों मे मन ही मन भ्रम फैलता गया । दूसरे दिन भोजनादि से निवृत होकर वे फिर उसी आत्मा और ब्रह्म के विचार में लीन हो गए, पर उस दिन भी नई-नई शकाओं और नये-नये भ्रमो का ताँता लगा रहा, किसी निश्चित मत पर पहुँच नहीं सके । अनगिनत शिष्यो को सन्तुष्ट कर देने वाली उन सभी कुलपतियों की बुद्धि इस विषय पर मूढ हो गई, वे मन ही मन बहुत लज्जित भी हुए । आखिरकार सबने मिलकर यह तय किया कि किसी दूसरे ऐसे विद्वान के पास चलकर इसका उचित समाधान कराया जाय, जो ब्रह्मवेत्ता हो । वे खुद देश के बहुत बड़े-बडे विद्वान थे इसलिए उनकी शका का समाधान करना कोई मामूली बात नही थी। जाते भी तो किसके पास जाते । खुद उन्ही के लिए यह लज्जा की बात थी कि सारे जीवन भर ब्रह्म और आत्मा के विचार में शिर खपाने

वाले आचार्यों को भी अपने ज्ञान पर सन्तोष नहीं है। इस तरह बहुत सोच-विचार के बाद यह तय हुआ कि इस समय हमारे देश मे मुनि-वर अरुण के पुत्र उद्दालक का नाम ब्रह्मज्ञानी परिडतों मे सब से अधिक चढा-बढा है। उन्हीं के पास हम लोग चल कर पहले अपनी शंकाएं समाहित करले। वे आत्मरूप वैश्वानर को भली-भाँति जानते हैं। यह राय पक्की हो गई और दूसरे दिन प्रातःकाल वे सब के सब अरुण के पुत्र उद्दालक के आश्रम की ओर रवाना हो गए।

उद्दालक का आश्रम वहाँ से बहुत दूर था। कई दिनो तक पैदल चलने के बाद पाँचों कुलपति आश्रम के समीप पहुँचे। उस समय उद्दालक अपने कुछ शिष्यों को पढा रहे थे। दूर से ही देश के विख्यात उन पाँचों कुलपतियों को देखकर उन्हें यह समझने में कोई कठिनाई नही हुई कि 'अवश्य ही ये लोग किसी शास्त्रीय विषय पर मुझसे समाधान करने के लिए आ रहे हैं। ये सब के सब खुद वेद-शास्त्र के इतने बड़े परिडत होकर जो मेरे पास आ रहे हैं तो वह शका भी कोई मामूली नही होगी, क्योंकि अपने-अपने आश्रमों को छोडकर इनका इतनी दूर का आना किसी छोटे विषय के कारण नहीं हो सकता। इनके प्रश्न का उत्तर देना सरल काम नही है। अभी मुझमे इतनी योग्यता नहीं है कि ऐसे-ऐसे विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ कर सकूँ। अच्छा यही होगा कि इन्हे किसी दूसरे आचार्य के पास भेजकर अपना पिण्ड छुडाऊँ।' उद्दालक शिष्यों के बीच बैठे-बैठे यह विचार कर ही रहे थे कि वे सब एकदम समीप आ गए। शिष्यों समेत उठकर उद्दालक ने उन पाँचों महान् कुलपतियों का अभ्यागत-सत्कार किया। कुशल-मंगल पूछ लेने और अपने शिष्यों के चले जाने के उपरान्त उद्दालक ने अपने अतिथिओं से आने का प्रयोजन पूछा। उनमे से वयोवृद्ध प्राचीन शाल ने संक्षेप मे अपनी बाते बता दीं। उद्दालक की बात सच निकली, वह थोड़ी देर तक बिल्कुल चुप रहे फिर मुसकराते हुए विनीत स्वर में बोले—'भगवन्! आप सब के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त कर शिष्यों

समेत मैं धन्य हो गया। अतिथि सत्कार के आचारों के अनुकूल मुझे सब तरह से आप को सन्तुष्ट और प्रसन्न करना चाहिए पर मै देख रहा हूँ कि मेरे दुर्भाग्य से आप सब को सन्तुष्ट करने वाली चीज मेरे पास नहीं है। आप सब हमारे देश के कुलपतियो मे एक से एक बढकर हैं। ब्रह्म और आत्मा के विषय मे आप की शकाओ का निराकरण करना मेरे बूते की बात नहीं है। मै भी उतना ही बता सकूँगा जितना आप सब जानते हैं। मेरी जानकारी मे इस समय केकय देश के राजा अश्वपति ही आप की शकाओ का समुचित समाधान कर सकते हैं। वे आत्मरूप वैश्वानर के सुप्रसिद्ध जानकार हैं। इस विषय मे उन्होंने बहुत अधिक अध्ययन और परिशीलन किया है। यदि हम सब लोग उनके पास चले तो मुझे आशा है कि वे हमारी सारी शकाओं का निराकरणकर ब्रह्म और आत्मा के सम्बन्ध मे समुचित ज्ञान देंगे।'

उद्दालक की छलरहित बातों को सुन कर वे सब कुलपति एक दूसरे का मुँह देखने लगे। जीवन मे ब्रह्म की महत्ता पर इतनी गहराई से सोचने का अवसर उन्हे नहीं लगा था। निरुपाय होकर वे सब दूसरे ही दिन प्रातःकाल केकय देश के राजा अश्वपति के पास चलने को राजी हो गए। केकय देश आज कल काकेशिया के नाम से विख्यात है, उस समय भारतवर्ष की सीमा वहाँ तक मानी जाती थी, महाराज दशरथ की रानी कैकेयी उसी केकय देश के राजा की पुत्री थीं।

दूसरे दिन वे पांचों कुलपति उद्दालक के साथ सुदूर-केकय देश की ओर पैदल ही रवाना हो गये। उस समय न रेल थी न हवाई जहाज। मुनियों को, जो गृहस्थी मे रहते हुये भी ससार के विषय भोगों से दूर रहते थे, हाथी घोड़ा की सवारी से कतई कोई सम्बन्ध नहीं था। उनके विद्या प्रेम का इससे बढ़कर दूसरा आदर्श क्या हो सकता है कि वे इतने बड़े-बड़े विद्वान् और मनीषी हो कर भी पैदल ही केकय देश की ओर चल पड़े। रास्ते के दुर्गम पहाडो, नदियों और जंगलों को बहुत दिनों में पार कर वे केकय देश की राजधानी मे पहुँच गए। राजा

अश्वपति को उनके आने का जब समाचार विदित हुआ तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। अपने पुरोहित और गुरु को साथ लेकर उसने उन सब की अगवानी की और अतिथिशाला मे लिवा जाकर उनके स्वागत समादर का विधिवत् प्रबन्ध किया। भोजन आदि की व्यवस्था हो जाने के बाद वह उनसे पूर्ण विश्राम करने की प्रार्थना कर दूसरे दिन प्रातःकाल मिलने का वचन देकर रनिवास मे चला गया। राजपुरोहित और राजगुरु भी दूसरे दिन प्रातःकाल मिलने की बात करके अपने अपने निवास की ओर चले गये रास्ते की परेशानियों से थके हुए आचार्यों ने वह रात बड़े आराम से बिता दी। दूसरे दिन ब्रह्ममुहूर्त मे नित्य क्रम के अनुसार उनकी नींद टूटी और वे स्नान-ध्यानादि से निवृत्त होकर राजा के आगमन की प्रतिक्षा मे लग गए।

राजा ने रात मे अपने मन मे सोचा था कि इन मुनियो का आगमन हमारे यहाँ निश्चय ही कुछ आर्थिक कठिनाइयों के कारण हुआ होगा, इसलिये उसने प्रातःकाल प्रधान मत्री और कोशाध्यक्ष को बुला कर एक-एक कुलपति को देने के लिए एक-एक सहस्र सुवर्ण मुद्रा, सौ सौ गौएँ और अन्य बहुतेरी सामग्रियो के साथ अतिथिशाला मे चलने का आदेश किया। इन सब सामानों को साथ लेकर वह अतिथिशाला मे पहुँचा जहाँ वे ब्रह्म जिज्ञासु उसकी प्रतीक्षा मे आतुर हो रहे थे। दण्ड प्रणाम के अनन्तर राजा अश्वपति ने उन छहों आचार्यों से अपनी तुच्छ भेंट स्वीकार करने की विनत प्रार्थना करते हुए कहा—पूज्य ब्राह्मणो ! मेरी धृष्ठता को क्षमा कीजिए जो आप सब को इतनी दूर आना पड़ा। मैने इधर आप के आश्रमो के बारे मे कोई जानकारी नही प्राप्त की कि वे किस प्रकार चल रहे हैं, आज आप सब को आया देखकर यद्यपि मुझे बहुत प्रसन्नता हो रही है पर मन में मै बहुत लज्जित भी हूँ। यह मेरी भेंट स्वीकार कीजिए और जिन अन्य वस्तुओं की आवश्यकता हो उनके लिए निःसंकोच आदेश कीजिए। मेरा सर्वस्व आप का है।'

थोड़ी देर तक कुलपतियों मे एक दूसरे की ओर ताकते रहे। फिर सब के मूक संकेत से उद्दालक ने मुसकराते हुए कहा—'राजन्! हमे आप के धन की कोई आवश्यकता नहीं है। आप की कृपा से हम सबों के आश्रम निर्बाध रूप से चल रहे हैं। इतनी वस्तुएँ ले जाकर हमे बेकार के झंझट नही बढाने हैं। कृपया हमारी धृष्टता को अशिष्ठता न समझिए।'

उद्दालक की बातों से राजा अश्वपति के हृदय को बड़ा धक्का लगा। उसने मन मे सोचा कि ये सर्वश्रेष्ठ कुलपतिगण ब्रह्म के पूर्ण जानकार हैं। मुझे ये अपराधी और अधर्मी समझ रहें हैं जो मेरा दिया हुआ धर्म स्वीकार नहीं कर रहे हैं। इस तरह थोड़ी देर तक अन्य कुलपतियों के उत्तर की प्रतीक्षा भी वह करता रहा पर वे सब के सब चुपचाप बैठे हुए थे। आखिरकार उसने अपने दिल की बात को प्रकट करते हुए कहा—'मुनियों! मेरे राज भर मे कोई चोर नहीं है, न कोई सूम है, न कोई शराबी है। ऐसा कोई द्विज मेरे राज्य मे नहीं रहने पाता जो अग्निहोत्र न करता हो या वेदों का जानकार न हो। न कोई व्यभिचारी पुरुष है और न कोई व्यभिचारिणी स्त्री है। इस तरह मेरा धन सब तरह से शुद्ध है। फिर तब ऐसा कौन-सा कारण है जो मेरे दिए हुए धन को आप लोग नहीं लेना चाहते।'

राजा की विनीत बातों को सुनकर छहों वेदज्ञ पण्डितों ने एक स्वर से कहा—'राजन्! हम लोग इतने धन की कामना से आप के पास इतनी दूर नहीं आए हैं।'

राजा अश्वपति को मुनियो के इस वाक्य से यह सन्देह हुआ कि मेरा दिया हुआ धन बहुत कम है। ये इतने से अधिक धन या सम्मान प्राप्ति की आशा करके यहाँ आए हुए हैं। उसने कहा—'आदरणीय आचार्यों! मै शीघ्र ही एक बहुत बड़ा यज्ञ करने वाला हूँ। उस यज्ञ मे आप सब लोगो को ही प्रधान याजक (यज्ञकर्त्ता) नियुक्त करूँगा और उस पद के अनुरूप विपुल दक्षिणा भी दूँगा।

इसलिए आप लोग कृपा करके कुछ दिनो तक यहाँ रुक जाय। मै बहुत शीघ्र ही उसका समारम्भ करूँगा।'

मुनियों ने उत्तर दिया—'राजन् ! हम लोग धन की इच्छा करके इतनी दूर नहीं आये हैं। अतएव आप यह धन तथा वह धन सब अपने दूसरे अतिथियों या पण्डितों को देने की कृपा करें। हमे तो आप उस आत्मरूप वैश्वानर का ज्ञान बतायें, जिसका अध्ययन आपने बहुत गहराई के साथ किया है।'

राजा चुप हो गया। मुनियो की उत्कट ज्ञान पिपासा को जानकर उसे परम प्रसन्नता हुई। उसने कहा—'मुनिवर वृन्द ! आप सब को आत्मरूप वैश्वानर का ज्ञान बतलाने की शक्ति मुझमे नही है राज-काज और ब्रह्म चिन्तन मे बडा अन्तर होता है, फिर भी अपनी बुद्धि के अनुकूल अपनी परीक्षा दूँगा। मै चाहता हूँ कि आप सब बहुत दूर से अनेक कठिनाइयों को झेलकर यहाँ आए हुए हैं, खूब विश्राम कर लें तो कल प्रातःकाल इस विषय पर विशेष चर्चा की जायगी।'

कुलपतिगण सहमत हो गए। राजा अश्वपति मन्त्री और कोशाध्यक्ष के साथ उन वस्तुओं को लेकर अतिथिशाला से बाहर चला आया। दूसरे दिन कुलपति लोग हाथों मे समिधा लेकर शिष्य भाव से खुद राजा अश्वपति के पास पहुँचे क्योंकि उन्हें आज उसी से शिक्षा ग्रहण करनी थी। उनको समीप आते देखकर राजा ने सब को बैठने का उचित स्थान दिया और सब से पहिले वयोवृद्ध उपमन्यु के पुत्र प्राचीन-शाल से पूछा—'औपमन्यव ! सब से पहिले मै यह जानना चाहता हूँ कि आप किस आत्मा की उपासना करते है।'

प्राचीनशाल ने उत्तर दिया—'राजन् ! मै तो सर्वदा स्वर्ग की उपासना मे लीन रहता हूँ।'

अश्वपति ने कहा—'औपमन्यव ! जिस स्वर्ग रूप आत्मा की उपासना मे आप सदा लीन रहते है वह विश्वात्मा का ही तेजोमय रूप है। वैश्वानर का अर्थ ही है समस्त चराचर जगत् मे व्यापक ब्रह्म।

यही कारण है कि आप के घर में सोमरस का समुचित प्रयोग होता है और आप अन्न को खाकर भली-भाँति पचाने मे समर्थ होते है। प्रिय वस्तुओं का दर्शन भी उसी तेज से करते हैं। आप की तरह जो व्यक्ति विश्वात्मा रूप वैश्वानर की उपासना इस प्रकार स्वर्ग के रूप में करता है वह रुचि के साथ अन्न भक्षण करता है और उसे भली-भाँति पचाने में समर्थ भी होता है, वही प्रिय वस्तुओं का दर्शन करता है और उसी का वश वैदिक महिमा से सर्वदा उज्जल रहता है। स्वर्ग ही आत्मा का शीर्षस्थान अर्थात् शिर है, पर यदि आप उसके ज्ञान की प्राप्ति के लिए इस प्रकार विनीत शिष्य के वेश मे मेरे पास न आए होते तो निश्चय ही अभिमान एवं अज्ञान के कारण आप का शिर धड़ से अलग हो गया होता, क्योंकि वह स्वर्ग तो विश्वात्मा का एक अंश मात्र है, न कि सम्पूर्ण अग।'

राजा अश्वपति की उक्त मर्मभरी वाणी सुनकर प्राचीनशाल का रहा-सहा गर्व भी गल गया। उनकी आखों से अहम्मन्यता का नशा उतर गया। भीतर मन में एक ज्योति पुंज सा भासमान होगे लगा। वह शिर झुकाकर खड़े रह गए। राजा ने उसके बाद प्लुष के पुत्र सत्ययज्ञ से इशारा करके पूछा—'मुनिवर! आप तो वेदज्ञो मे प्रधान माने जाते हैं। मै जानना चाहता हूँ कि आप किस आत्मा की उपासना में रात-दिन लगे रहते हैं।'

सत्ययज्ञ ने विनीत स्वर में उत्तर दिया—'राजन्! मै तो तीनो वेला में भगवान् भास्कर की आराधना किया करता हूँ।'

राजा अश्वपति ने कहा—'मुनिवर! आप जिस भास्कर रूप आत्मा की उपासना मे तीनों वेला लगे रहते हैं वह वैश्वानर रूप आत्मा का ही स्वरूप है। यही कारण है कि आप के कुल मे अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं। रथों को खीचने वाले घोडे या खच्चर आप की आज्ञा का पालन करते हैं। आप की दासियाँ भी मूल्यवान मुक्ताओं का हार पहनती हैं। आप सुरुचि पूर्ण अन्न को खाकर भली-भाँति पचाने मे

समर्थ हैं और सदा प्रिय वस्तुओं का दर्शन करते हैं। आप की तरह जो व्यक्ति इस रूप में वैश्वानर रूप आत्मा की उपासना करता है वह भी अन्न खाकर पचाने मे समर्थ होता है और प्रिय वस्तुओं का दर्शन करता है। उसके वश मे वैदिकों की महिमा सदा छाई रहती है और वही भास्कर वैश्वानर आत्मा की आख है। पर यदि आप मेरे पास ज्ञानप्राप्ति के लिए न आये होते तो अज्ञानता और अभिमान के कारण निश्चय ही आप की दोनों आखे फूट जातीं क्योंकि भास्कर (सूर्य) उस वैश्वानर आत्मा का केवल एक अश है, पूर्ण अश नहीं। उन्हें पूर्ण समझने का दण्ड तो आपको भुगतना ही पड़ता, पर अच्छा हुआ कि आप समय रहते सचेत हो गए।'

सत्ययज्ञ की जिज्ञासा शान्त हो गई, वह चुपचाप निर्निमेष नेत्रों से राजा अश्वपति के तेजोमय मुखमण्डल की ओर देखने लगे। तदनन्तर राजा ने भल्लव के पुत्र आचार्य, इन्द्रद्युम्न की ओर संकेत करते हुए कहा—'भाल्लवेय! आप तो पूज्य आचार्य व्याघ्रपाद के वशज हैं, जिनका पवित्र नाम आज भी वेदज्ञानियों मे श्रद्धा के साथ लिया जाता है। आप स्वय सहस्रों विद्यार्थियों के आचार्य और वेदों की महिमा के पूर्ण जानकार हैं। मै आप से भी यह जानना चाहता हूँ कि आप किस आत्मा की उपासना करते हैं?'

इन्द्रद्युम्न ने निःसकोच उत्तर दिया—'राजन्! मै तो सदा गतिशील रहने वाले वायुदेव की उपासना करता हूँ, क्योंकि मेरी दृष्टि मे वही सब से महान् महिमामय है।'

अश्वपति ने कहा—'भाल्लवेय! आप जिस वायुरूप आत्मा की उपासना करते हैं वह विश्वात्मा वैश्वानर के विभिन्न पथों मे बहने वाला है। इसीलिए आप की आज्ञा के अनुसार अनेक राजाओं की सेनाएँ विविध क्षेत्रों मे गमन करती हैं और अनेक तरह के रथों की पक्तियाँ आप के पीछे-पीछे चलती हैं। आप रुचि के साथ सुस्वादु भोजन करके उसे पचाते हैं और प्रिय वस्तुओं का दर्शन करते हैं। आप की तरह

जो व्यक्ति इस रूप में विश्वात्मा की उपासना करता है वह भी रुचि के साथ भोजन करके पचाता है और प्रिय वस्तुओं का दर्शन करता है। यही नहीं उसके विपुलवश मे वैदिकों की अपार महिमा सदा छाई रहती है। वायु उस विश्वात्मा का प्राण स्वरूप है। यदि आप ब्रह्म के पूर्ण ज्ञान के लिए मेरे पास यहाँ तक न आते तो अभिमान और अज्ञानता के कारण आपके प्राणों की गति ही रुक जाती।'

आचार्य इन्द्रद्युम्न को अपने उच्च वश एव ब्रह्मज्ञान का सचमुच बड़ा अभिमान था। राजा की उक्त बातों से आज उन्हे पहिली बार अपनी अल्पज्ञता का बोध हुआ। लज्जा से अवनत मुख होकर वह अपने पैर से जमीन कुरेदने लगे। तदनन्तर राजा ने उनकी बगल में बैठे हुए शर्कराक्ष के पुत्र जन को सकेत करते हुए पूछा—'शार्कराक्ष्य ! मैं जानना चाहूँगा कि आप किस आत्मा की उपासना करते हैं ?'

विनीत स्वर मे जन बोले—'राजन् ! मैं तो सर्व शक्तिमान् आकाश की उपासना करता हूँ।'

राजा अश्वपति ने कहा—'भद्र ! आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं वह विश्वात्मा का व्यापक रूप है। उसी मे उसके अनेक रूपों का समावेश हुआ है। यही कारण है कि आप सपत्ति और सतति से भली तरह भरे-पुरे हैं। यही कारण है कि आप रुचि के साथ सुस्वादु भोजन करते हैं और उसे भली-भाँति पचा लेते हैं। जो भी व्यक्ति आप की तरह इस आकाशरूप मे वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है वह रुचि के साथ सुस्वादु भोजन करता है और उसे भली-भाँति पचा लेता है, उसके विशाल कुल मे सदा वैदिक महिमा छाई रहती है और वह सर्वदा प्रिय वस्तुओं और प्रियजनों का दर्शन करता है। यह आकाश उस वैश्वानर आत्मा का धड है। यदि आप मेरे पास पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए न आए होते तो अज्ञानता और अभिमान के कारण आपका भी धड़ सूख जाता, क्योंकि आप केवल वैश्वानर आत्मा के एक ही अंग की उपासना कर रहे थे और उसे पूर्ण समझने

का स्वाँग भर रहे थे।'

आचार्य जन बाहर से कुछ लज्जित-से पर भीतर-भीतर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने हाथ जोड़कर राजा अश्वपति से कहा—'राजन्! आप बिल्कुल सच कह रहे हैं। मेरा अभिमान सचमुच बहुत बढ़ गया था। आपने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की।'

तदनन्तर राजा अश्वपति ने अश्वतर के पुत्र आचार्य बुडिल की ओर हाथ उठाकर कहा—'भद्र! आप आत्मा के किस स्वरूप की उपासना करते हैं?'

बुडिल ने विनम्र भाव से कहा—'राजन्! मै तो जल की उपासना करता हूँ, क्योंकि मेरी दृष्टि में उससे बढ़कर शक्तिमान् कोई दूसरी आत्मा नहीं है।'

राजा ने कहा—'महाशय! आप सच बात कह रहे हैं। आप जिस आत्मा की उपासना करते है वह वैश्वावर आत्मा का वैभव है। यही कारण है कि आप श्रीसम्पन्न और पुष्टिमान् हैं। आप के रुचि पूर्वक भोजन करने और उसे भली भाति-पचाने का भी यही कारण है। आप भी इसीलिए सदा प्रिय जनो एव प्रिय वस्तुओं का दर्शन करते हैं। आप की तरह जो व्यक्ति इस जल रूप मे विश्वात्मा की उपासना करता है वह सुस्वादु भोजन को अच्छी तरह पचाता है और सदा प्रिय जनों एव प्रिय वस्तुओं का दर्शन करता है उसके कुल में आप ही की तरह चिरकाल तक वैदिकों की महिमा छाई रहती है। किन्तु यह सब होते हुए भी वह जल उस विश्वात्मा का निम्न भाग है। यदि आप अभिमान एवं अज्ञान मे उसी अल्पज्ञान के भरोसे पड़े रहते और मेरे पास न आते तो आप के शरीर का निम्न भाग नष्ट हो जाता।'

बेचारे बुडिल सहम कर अरुण के पुत्र उद्दालक की ओर ताकने लगे। तदनन्तर राजा ने उद्दालक की ओर लक्ष्य करके कहा—'भद्र! आप तो ब्रह्मज्ञानियों मे सब से अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं, मैं आप से भी यही पूछ रहा हूँ कि भला आप किस आत्मा की उपासना

में सदा लगे रहते हैं ?'

उद्दालक ने निःसंकोच भाव से कहा—'राजन्! मैं तो पृथ्वी की उपासना करता हूँ, क्योंकि इसी पर समस्त चराचर जगत् टिका हुआ है।'

राजा अश्वपति ने उद्दालक को भी आड़े हाथों लिया। उसने कहा—'आरुणि! आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं वह वैश्वानर का चरणप्रान्त वा प्रतिष्ठा है। यही कारण है कि आप भी विपुल सतति और असंख्य पशुओं द्वारा प्रतिष्ठित हैं। यही कारण है कि आप रुचि के साथ भोजन करके उसे भली-भाँति पचाने की भी शक्ति रखते हैं और प्रिय वस्तुओं का दर्शन करते हैं। जो व्यक्ति विश्वात्मा की उपासना आप की तरह पृथ्वी रूप में करता है वह भी रुचि के साथ भोजन करके उसे पचाता है और सर्वदा प्रिय वस्तुओं का दर्शन करता है। उसके विपुल वंश में चिरकाल तक ब्रह्मज्ञान की महिमा छाई रहती है किन्तु जैसा कि मैं कह रहा हूँ यह पृथ्वी उस विश्वात्मा का चरण प्रान्त है। यदि आप उसे ही सम्पूर्ण विश्वात्मा समझकर मेरे पास ज्ञान के लिए न आए होते तो आप के चरणों की चलने की शक्ति सर्वथा नष्ट हो गई होती।'

उद्दालक भी चुप होकर इधर-उधर बगलें झाँकने लगे।

तदनन्तर राजा अश्वपति ने उन छहों आचार्यों को सम्बोधित करते हुए कहा—महानुभाव! आप लोग वैश्वानर आत्मा को इस तरह अनेक रूपों में समझकर अन्न ग्रहण करते हैं। पर जो व्यक्ति उसके उस विश्वरूप की उपासना करता है, जो पृथ्वी से आकाश तक के समस्त प्रदेशों में छाया हुआ है और जो 'अहम्' का मूल बीज रूप है वह समस्त स्वरूपों में और समस्त लोकों में और समस्त आत्माओं में अन्न ग्रहण करता है। आप में और उस में यही भेद है।'

कुलपतियों में से वयोवृद्ध प्राचीनशाल ने विनीत स्वर से फिर पूछा—'राजन्! उस विश्वात्मा के विराट स्वरूप को हम यथार्थ रूप

मे किस प्रकार जान सकते हैं ।'

राजा अश्वपति ने कहा—'औपमन्यव ! ध्यान देकर सुनिए ।' उस अखिल जगद्व्यापी जगदात्मा वैश्वानर का शिर स्वर्ग लोक है, नेत्र सूर्य है । प्राण वायु है । धड़ आकाश है । निम्न भाग जल है और चरण प्रान्त पृथ्वी है । यज्ञो की वेदी उसकी छाती है । कुशा उस की रोमावलि हैं । गार्हपत्य अग्नि उसका हृदय है, भोजन पचानेवाली जठराग्नि उसका मन है और आहवनीय अग्नि उसका मुख है । उस आहवनीय अग्नि मे जो कुछ भी पदार्थ पहले डाला जाता है वही प्रथम आहुति है । उससे प्राण तृप्त होता है ।'

दूसरे आचार्य सत्ययज्ञ ने पूछा—'राजन् ! प्राण के तृप्त होने से क्या होगा ?'

अश्वपति ने कहा—'भद्र ! प्राण की तृप्ति से ही नेत्रों की तृप्ति होती है और नेत्रों की तृप्ति से आदित्य भास्कर तृप्त होते हैं । उनकी तृप्ति से स्वर्ग लोक तृप्त होता है और स्वर्ग लोक की तृप्ति से उन सबकी तृप्ति होती है जो सूर्य और स्वर्ग के भरोसे बैठे हुए हैं । उन सब की तृप्ति से यज्ञकर्त्ता की तृप्ति होती है और वह संतति, पशु, सम्पत्ति, अन्न तेज और वास्तविक ब्रह्मज्ञान की महिमा से पूर्ण होता है । इसी प्रकार फिर उसी आहवनीय अग्नि मे व्यान वायु के लिए दूसरी आहुति डालनी चाहिए, जिससे कर्णेन्द्रिय की तृप्ति होती है ।'

कर्णेन्द्रिय की तृप्ति की बात इन्द्रद्युम्न की समझ में ठीक से नहीं आई । वह बोले—'राजन् ! कर्णेन्द्रिय की तृप्ति का क्या फल होता है ?'

अश्वपति ने कहा—'भाल्लवेय ! उन कर्णेन्द्रियों की तृप्ति से चन्द्रमा तृप्त होता है । चन्द्रमा के तृप्त होने से दसों दिशाएँ तृप्त होती हैं और दसो दिशाओं की तृप्ति से उन सब की तृप्ति होती है जो चन्द्रमा और दिशाओ के भरोसे पर रहते हैं । उन सब की तृप्ति से ही यज्ञकर्त्ता की वास्तविक तृप्ति होती है और तब वह पशु, सम्पत्ति, संतति, अन्न,

तेज और ब्रह्म की महिमा से विमण्डित होता है। हे भद्रो! इसी प्रकार उस आहवनीय अग्नि मे अपान वायु की तृप्ति के लिए तीसरी आहुति भक्ति समेत डालनी चाहिए, जिससे वाणी की तृप्ति होती है।'

वाणी की तृप्तिवाली बात शर्कराक्ष के पुत्र आचार्य जन के मन मे नहीं बैठी वह विनीत वाणी में बोले—'राजन्! वाणी की तृप्ति से भला यज्ञकर्त्ता को क्या फल मिलेगा?'

अश्वपति ने कहा—'शार्कराक्ष्य! वाणी की तृप्ति से अग्नि की तृप्ति होती है। अग्नि की तृप्ति से पृथ्वी तृप्त होती है। और पृथ्वी की तृप्ति से उन सब की तृप्ति होती है जो पृथ्वी और अग्नि के भरोसे जीवन धारण करते हैं। उन्हीं सब की तृप्ति होने से यज्ञ करने वाले की वास्तविक तृप्ति होती है और तभी वह सतति, पशु, सम्पत्ति, अन्न और तेज से पूर्णकाम होकर ब्रह्म महिमा से समन्वित होता है। हे सौम्य! इसी प्रकार आहवनीय अग्नि में चतुर्थ आहुति समान वायु के उद्देश से डालनी चाहिए, जिससे मन तृप्त होता है।'

आचार्य बुडिल ने कहा—'राजन्! मन की तृप्ति से क्या होगा?'

राजा अश्वपति ने कहा—'भद्र! मन की तृप्ति से मेघ की तृप्ति होती है और मेघ की तृप्ति से बिजली की तृप्ति होती है। बिजली की तृप्ति से उन सब प्राणियो की तृप्ति होती है जो मेघ और बिजली पर जीवन निर्भर करते हैं। और उन्हीं सब की तृप्ति से यज्ञकर्त्ता की वास्तविक तृप्ति होती है। और उसे तभी सतति, पशु, सम्पत्ति, अन्न, तेज और अपार ब्रह्म महिमा की प्राप्ति होती है। सौम्य! इसी प्रकार उस आहवनीय अग्नि मे पाँचवीं आहुति उदान वायु की तृप्ति के लिए देनी चाहिए, जिससे वायु की तृप्ति होती है।'

वायु की तृप्तिवाली बात को सुनकर अरुण के पुत्र उद्दालक ने पूछा—'राजन्! भला वायु की तृप्ति से यज्ञकर्त्ता को क्या फल मिलेगा?'

राजा ने कहा—'आरुणि! वायु के तृप्त होने से आकाश तृप्त

होता है और आकाश की तृप्ति से उन सब जीव समूहो की तृप्ति होती है, जो वायु और आकाश पर जीवन निर्भर करते हैं। और उन्ही सब की तृप्ति होने पर यज्ञकर्त्ता की वास्तविक तृप्ति होती है, और उसे विपुल सतति, सम्पति, पशु, समृद्धि, अन्न, तेज और ब्रह्मबल की सच्ची प्राप्ति होती है। आचार्यो! जो व्यक्ति इन बातो को जाने बिना यज्ञ यागादि करता है उसको वैसा ही फल मिलता है जो दहकते अगारो को छोड़कर राख की ढेर पर आहुति डालता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति इन सब बातो को भली-भाँति समझ बूझ कर यज्ञ करता है उसका यज्ञ सब लोकों मे, सब रूपो मे और आत्मा की सब विधियों से समन्वित होता है, उसी को यज्ञ का पूरा फल प्राप्त होता है। जिस प्रकार दहकती आग मे पुआल का सूखा तिनका डालने पर तुरन्त भस्म हो जाता है उसी प्रकार इन सब बातो का तत्त्व समझकर यज्ञ करने वाले व्यक्ति के सब कायिक, वाचिक और मानसिक पाप जलकर अपने आप भस्म हो जाते हैं। हे ऋषियो! जिस प्रकार भूखे बच्चे अपनी माताओं को प्राप्तकर सुखी होते हैं उसी प्रकार इस जगत् मे विविध यातनाओं से घिरा हुआ मानव अग्निहोत्र की शरण मे जाकर सुखी होता है और उसी के द्वारा उक्त प्रकार के ब्रह्म का और आत्मा का साक्षात्कार होता है। वह ब्रह्म कही अलग नही है, यह समस्त चराचर जगत् ब्रह्ममय है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

पाचो कुलपतियों की ग्रन्थियाँ छूट गईं, शंकाएँ विलीन हो गईं और कृतज्ञता के अतिरेक से उनके हृदय भर आए।'

× ×

दूसरे दिन प्रातःकाल राजा अश्वपति ने उन्हे अपनी राजधानी से बहुत सम्मान के साथ विदा किया और पहले दिन दी जाने वाली दक्षिणा को अगीकार करने के लिए बाधित किया। वे सबके सब बड़े प्रसन्न मन से ब्रह्मज्ञान की ग्रन्थि को सुलझा कर अपने-अपने आश्रम को लौट पड़े। लौटते समय उन सब के मन में प्रसन्नता और सन्तोष

की लहरे दौड रही थीं। आखों मे हरियाली थी और मन मे कई गुना उत्साह।[1]

---

[1] छान्दोग्य उपनिषद से

# श्वेतकेतु और उद्दालक

[ ६ ]

अरुण के पुत्र उद्दालक की चर्चा पहले कई बार आ चुकी है। वह एक बहुत बड़े कुलपति थे। उनके आश्रम मे दूर दूर देश के सहस्रों विद्यार्थी आकर वेदों का अध्ययन करते थे। पर उनका पुत्र श्वेत केतु इकलौता होने के कारण बारह वर्ष की उमर तक कुछ भी पढ लिख नहीं सका। वह रात दिन खेल कूद मे लगा रहता और आश्रम के विद्यार्थियों को परेशान करता। जब कभी पढ़ाने-लिखाने की कोशिश होती जोर जोर से रोने लगता और उसकी माता आकर उसे छुडा देती। ढलती उमर मे पैदा होने के कारण उद्दालक भी विशेष सख्ती नही कर सकते थे। उन्हे जब यह निश्चित विश्वास हो गया कि श्वेतकेतु हमारे पास रह कर पढ़-लिख नही सकता'तो एक दिन एकान्त मे बुलाकर बड़े प्यार से पूछा—'बेटा! अब तुम अबोध बच्चे नहीं हो, बारह वर्ष के हो गए, तुम्हारा उपनयन सस्कार भी हो चुका पर अभी तक तुम वेद का एक भी मत्र नही जानते। हमारे कुल मे कोई भी ऐसा नहीं पैदा हुआ जिसने वेदो को न पढ़ा हो और केवल जन्म लेने के कारण ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी हो। सोचो, यह कितनी बड़ी लज्जा की

बात है कि हमारे पुत्र होकर तुम अब तक बिल्कुल अज्ञ ही बने रहे। हमारे पास दूर-दूर के हजारों विद्यार्थी पढने-लिखने के लिए आये हुए हैं हम उन सब के आचार्य हैं, तुम्हें इस रूप मे देखकर वे सब अपने मन में क्या सोचते होंगे ? हम अब तक सोच रहे थे कि तुम खुद विद्या प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करोगे, इसीलिए कभी कोई सख्ती नहीं की, किन्तु दुःख है कि तुम अपने से कौन कहे, धर पकड़ करने पर भी कुछ नही सीख सके। अब हम तुम्हें इस रूप मे देखकर सुखी नहीं रह सकते। हम चाहते हैं कि तुम यहाँ से जाओ और किसी सुयोग्य गुरु के समीप ब्रह्मचारी बनकर वेदाध्ययन करो। पुत्र ! हमारी इस अभिलाषा को पूरी कर के जब तुम लौटोगे तब हम समझेंगे कि तुम हमारे बाद कुल की मर्यादा को स्थिर रखोगे।'

श्वेतकेतु के निर्मल मानस मे पिता के इन वचनों से ग्लानि का उदय हुआ। वह मन में अपनी भूल पर बहुत दुःखी होकर बोला —'पूज्य तात ! मेरी भूलों को क्षमा कीजिए। मैने अज्ञान मे घिरकर कभी इस बात की ओर ध्यान ही नहीं दिया कि मेरा कर्त्तव्य क्या है ? बेकार के खेल-कूद और मनबहलाव में इतने दिनों तक लगा रहा। न तो कभी माता जी ने और न आप ने इस तरह मुझे समझाया और न किसी साथी ने ही कभी कुछ बतलाया। जब कभी धर-पकड़ कर पढ़ाने लिखाने के लिए बैठाया जाता तो मेरे मन मे खेल-कूद के छूट जाने का दुःख होता और बचपन के साथियों की याद आती, इसी से तुरन्त रोने लगता और भागने की कोशिश करता। मगर आज मैं अपने किए पर दुःखी हूँ, जीवन के अमूल्य वर्षों को खोकर पछता रहा हूँ। पूज्य तात ! मुझे अब शीघ्र ही किसी आचार्य के समीप वेदाध्ययन के लिए जाने का शुभ मुहूर्त बताइये। यह बात सच है कि आप के पास रहकर, उतना नहीं पढ़ लिख सकूँगा जितना किसी अन्य आश्रम में रहकर। क्योंकि यहाँ पर माता जी का स्नेह, साथियों का प्रेम और गृहस्थी के झंझटों से अध्ययन मे बाधा पहुँचेगी।'

श्वेतकेतु की बातों को सुनकर उद्दालक को आश्चर्य के साथ-साथ बड़ी प्रसन्नता भी हुई। जिसे वे अभी तक अबोध उद्दण्ड बालक समझते थे वह कितना मतिमान है, इसकी उन्होंने कभी उम्मीद नही की थी। पुत्र को छाती से लगाते हुए बोले—'मेरे वत्स! तुम हमारे उज्ज्वल वश के प्रकाशमान तारे हो। तुमसे हमे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।'

दो-तीन दिन बाद श्वेतकेतु शुभ मुहूर्त मे वेदाध्ययन के लिए उपमन्यु के पुत्र प्राचीनशाल के आश्रम को रवाना हो गया। जाते समय दयालु पिता ने उसके ऊपर कृपादृष्टि रखने के लिए प्राचीन शाल को एक पत्र लिखा और ममतामयी माता ने भी प्राचीनशाल की पत्नी को पुत्रवत् स्नेह करने की एक चिट्ठी लिखी। आखों में आँसू भर श्वेतकेतु जब बटुवेश मे पिता के आश्रम से बिदा हुआ तो आश्रम के सभी विद्यार्थियो ने गुरु और गुरुपत्नी के साथ उसके भावी वियोग मे दुःख प्रकट किया और बहुत दूर तक पहुँचाया। माता और पिता न अपने पारस्परिक प्रेम के प्रतीक को परदेश भेजकर बारह वर्ष बाद पहिली बार गृहस्थी के दुःख का निकट से अनुभव किया। उनकी उदास आँखों मे करुणा की धारा थी और विकम्पित हृदय मे वात्सल्य का स्रोत। कई दिनो तक वे श्वेतकेतु की याद मे विह्वल हो जाते।

श्वेतकेतु प्राचीनशाल के आश्रम मे पहुँचकर बहुत जल्द ही घुल मिल गया। पिता और माता के पत्रो ने उसे गुरु के आश्रम मे भीतर से लेकर बाहर तक सुख-सुविधा और सन्तोष का सारा साधन इकट्ठा कर दिया। वह गुरुपत्नी को अपनी ममतामयी माता के समान, गुरु को कृपालु पिता के समान और गुरुपुत्रो को सगे भाइयों के समान पाकर अपनी जन्म भूमि को धीरे धीरे भूल-सा गया और तन मन से अध्ययन मे जुट गया।

× ×

गुरु और गुरुपत्नी के असीम स्नेह का अधिकारी बनकर श्वेतकेतु ने विद्या तो सारी सीख ली पर स्वभाव से वह कुछ अभिमानी भी हो गया

जैसा कि उसके लिए स्वाभाविक भी था। उमर में सब से सयाना होने के कारण भी उसकी उद्दण्डता को सहायता मिलती थी। प्राचीनशाल यह बुराई जान बूझकर भी कभी श्वेतकेतु को कुछ कहते नहीं थे। वह पढने-लिखने मे सब से अधिक तेज, बलवान, आज्ञाकारी, बडे बाप का बेटा और शरीर से सुन्दर था, इन सब विशेषताओं मे उसकी अभिमानी प्रकृति प्राचीनशाल को कभी खलनेवाली नही बनी। गुरु और गुरुपत्नी का समीपी होने के कारण उसके सहपाठी भी उससे बहुत दबते थे। उसकी निरर्गल प्रकृति को इससे भी बडी खूराक मिली।

गुरु के आश्रम में रहते हुए उसे पूरे बारह वर्ष बीत गए। उसकी उमर अब चौबीस वर्ष की हो गई। अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत से उसके तेजस्वी शरीर मे कुन्दन की तरह चमक आ गई। ब्रह्मवर्चस् की आभा प्रदीप्त मुख मण्डल से फूटने लगी। वह व्याकरण आदि छहों अंगों समेत चारों वेदो का प्रकाण्ड पण्डित बन गया। आखिरकार एक दिन शुभ मुहूर्त मे प्राचीनशाल ने उसका समावर्तन संस्कार सम्पन्न कर घर जाने की आज्ञा प्रदान कर दी। गुरु के आशीर्वचन, गुरुपत्नी के ममतामय स्नेह-सिंचित शुभ वाक्य और साथियों की शुभ कामनाएँ लेकर वह बारह वर्ष बाद जब आश्रम से विदा हुआ तो आँखों मे आंसू भर आये और गला रुद्ध हो गया। पर भीतर ही भीतर चिर वियुक्त ममतामयी माता, पिता और जन्मभूमि के दर्शन की लालसा भी उमड़ पडी। मार्ग मे चलते-चलते वह पीछे वाले आश्रम की बाते छोडकर आने वाले आश्रम की बाते सोचने लगा। व्याकरण आदि छहो अंगों समेत चारों वेदो का उसे इतना अभ्यास हो गया था कि कहीं पर भी पूछने पर तड़ तड उत्तर देता और शास्त्रार्थ मे अपने विपक्षी का निरुत्तर कर देता। पिता के आश्रम मे भी सहस्रों विद्यार्थी रहते थे। मार्ग मे ही उसने निश्चय किया कि अपने पिता के विद्यार्थियों से शास्त्रार्थ करूँगा और पिता जी को भी अपनी योग्यता तथा प्रतिभा से आश्चर्य मे डाल दूँगा। इस तरह के विचारो मे डूबते ही उसका अभिमानी मन फूल

उठा। उसे यह दिखाई पड़ने लगा कि अब वेदों और शास्त्रों में कहीं ऐसा कोई विषय नहीं है जिस पर उसका पूर्ण अधिकार न हो। पिता की भाँति ही उसकी योग्यता भी है, पिता भी तो पण्डित ही हैं, कभी उनके ज्ञान-गौरव को भी तौलना होगा। इसी गर्व में भरा हुआ श्वेत-केतु पाँचवें दिन मध्याह्न में अपनी जन्मभूमि के समीप आ पहुँचा। आश्रम के बाल सहचर पेड़-पौदे और पशुओं में काफी परिवर्तन हो गया था। साथ खेलने वाले छोटे-छोटे बालक विनीत बटुवेश में काफी सयाने और भद्र बन गए थे। वह भी तो अब अबोध श्वेतकेतु नहीं था वेदों और शास्त्रों का बड़ा जानकार था। सब से पहिले अपने पूज्य पिता के समीप पहुँचकर वह उनके प्यासे अश्रु सिंचित नेत्रों का प्रिय-दर्शन बना। कृपालु पिता ने अपने चिरवियुक्त हृदय-खण्ड को छाती से लगा लिया और उसके शिर को सूँघते हुए, पीठ पर अपने बाहुरूपी स्नेह पाश को फेरते हुए कुशल समाचार पूछा। पर अविनयी श्वेतकेतु पिता को प्रणाम करना भूल गया, उसके मन में उस समय इस बात का द्वन्द्व मचा हुआ था कि पिता जी अभी मेरी पढ़ाई-लिखाई के बारे में क्यों नहीं कुछ पूछताछ कर रहे हैं।

गुरु के आश्रम से अध्ययन समाप्त कर श्वेतकेतु के वापस आने की बात सारे आश्रम में फैल गयी। माता ने आकर उसे छाती से लगा लिया और अपने साथ कुटीर में चलने की बात की। पर श्वेतकेतु को अभी इस बात की उतनी जल्दी नहीं थी कि माता से अपना कुशल समाचार बताये जितनी पिता से अपने प्रगाढ पाण्डित्य और वेदों-शास्त्रों पर अपार अधिकार की चर्चा करने की। पर शील, सदाचार से विवश होकर वह अन्यमनस्क भाव से माता के साथ कुटीर में चला गया। अनुभववृद्ध उद्दालक को पुत्र की मनोवृत्ति का क्षीण परिचय मिल गया। उसकी अविनीतता उनके कृपालु कोमल सुमन में काँटे की भाँति पहली ही बार चुभने-सी लगी।

× × ×

सन्ध्या हुई। माता से सध्यावन्दन की आज्ञा प्राप्तकर श्वेतकेतु आश्रम में आया और अपने चिरविरही बाल साथियों से घिर गया जो अब उसी की भाँति शरीर, बल और तेजस्विता मे युवा बन गए थे। उनकी पढाई-लिखाई का समाचार पूछते हुए उसने अपनी पण्डिताई की धाक भी उन पर जमा दी। प्रकृति से ही अति सरल और उदार उद्दालक के शिष्यों मे अपने गुरु-पुत्र के प्रगाढ पाण्डित्य की चर्चा बढते-बढते उद्दालक के कानों मे भी पड गई। उन्हे इस बात से भी एक उलझन ही हुई। रात मे सन्ध्यावन्दन आदि से छुट्टी पाकर श्वेतकेतु पिता के समीप आया, उस समय वह कुछ शिष्यों से बातें कर रहे थे। श्वेतकेतु के आने पर शिष्यों ने उठकर सम्मान प्रकट किया और पिता ने बैठने का आदेश दिया। शास्त्रो की चर्चा के सिवा उद्दालक के आश्रम मे दूसरा विषय था ही क्या। सब लोग परस्पर बातें करने लगे। इसी बीच मे अवसर का कुछ भी ख्याल न करके श्वेतुकेतु ने अपने पिता से भी अपने गम्भीर अध्ययन, पाण्डित्य और सुबोधता की चर्चा की। उद्दालक मन ही मन बहुत दु.खी हो गए। थोडी देर बाद शिष्यों को जाने का आदेश देकर श्वेतकेतु के साथ बातें करते हुए वह कुटीर मे वापस आए। श्वेतकेतु ने इस बीच मे भी अपनी अहम्मन्यता के चार-छः छींटे कसे, जिसके उल्टे प्रभाव ने उद्दालक को कुछ और भी विचलित कर दिया। पर प्रशान्त समुद्र मे हवा के मामूली झोंकों का असर नहीं हुआ। अपनी उसी गम्भीर प्रकृति मे शन्तिपूर्वक वे जाने क्या विचारते रहे।

थोडी देर बाद एक शास्त्रीय चर्चा के प्रसग मे उद्दालक ने पूछा—'वत्स! अगों समेत चारों वेदो और छहों शास्त्रो का भली भाँति तुमने अध्ययन कर लिया है, और जहाँ तक मै समझता हूँ तुम उन सब पर अपना एकाधिकार भी मानते हो। ठीक है, जिस विषय को तुमने इतने परिश्रम से अधिगत किया है उस पर सन्तोष और आत्मविश्वास तो होना ही चाहिए, पर इस तरह सब के सामने कहने

से वेद शास्त्र तुम्हारे ऊपर रुष्ट हो जायँगे क्योंकि वे अभिमानी पात्र में रुकना पसन्द नहीं करते। उनका प्रिय पात्र विनयी, सदाचारी और निरभिमान है।'

श्वेतकेतु ने क्षणभर में ही सब वेदो और शास्त्रों को मन ही मन उलट डाला, पर कहीं भी उस विद्या की चर्चा आई तो थी नही वह उत्तर किस चीज का देता! उसका अभिमानी मन लज्जा से गडने लगा। सोचा, 'मेरा मिथ्या अभिमान कितना निराधार और पापमय है।

कुछ देर बाद विनीत स्वर में हाथ जोडकर बोला—'तात वह विद्या कौन सी है? उसका तो मुझे तनिक भी ज्ञान नहीं है। मेरे पूज्य गुरुदेव ने कभी इस विद्या की चर्चा भी नही की। ऐसी अनुपम विद्या को मैं सीखना चाहता हूँ। तात! मेरे अपराधो को क्षमा कीजिए।' ऐसा कहते हुए वह पिता के चरणों पर अजलि बाँधकर गिर पडा। थोडी देर पूर्व की उसकी अभिमानी आँखो मे ग्लानि के आँसू आ गए और मन मे धिक्कार की आवाज गूँजने लगी।

उद्दालक ने श्वेतकेतु को उठाते हुए कहा—'वत्स! तुम अधीर मत बनो। मैं तुम्हें उस विद्या का उपदेश दूँगा; पर अब से यह बात गाँठ बाँध लो कि इस ससार मे अभिमानी का कल्याण नहीं होता। उसके हाथ मे रहनेवाली वस्तु भी नष्ट हो जाती है। विद्या का स्वभाव ही है कि उसका जाननेवाला विनयी सदाचारी और निरभिमानी हो जाता है। जो व्यक्ति विद्या सीख कर भी अविनीत, असदाचारी और अभिमानी रहता है वह कभी विद्वान् नहीं कहा जाता, उसका सर्वत्र अनादर और अपयश होता है।'

श्वेतकेतु ने शिर को नीचे झुकाकर विनीत स्वर मे उत्तर दिया—'तात! मेरा अज्ञान दूर हो गया है, आपके चरणों की कृपा से मेरे हृदय मे अभिमान का अधकार दूर हो गया और अब मुझे अपनी सारी कमजोरियाँ दिखाई पड रही हैं।'

उद्दालक बीच ही में बोल पडे—'वत्स! मेरा अमर्ष मिट गया, तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुम्हे उस परम गोपनीय विद्या का उपदेश कर रहा हूँ। ध्यानपूर्वक ग्रहण करो।'

श्वेतकेतु सावधान होकर बैठ गया। पिता की तेजस्विनी वाणी

में प्रखर प्रकाश आज उसे पहिली बार दिखाई पड़ा। उद्दालक बोले—'वत्स! जैसे मिट्टी के एक ढेले का ज्ञान हो जाने के बाद ससार मे मिट्टी से बनी हुई तमाम वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है और यह भी मालूम हो जाता है कि घड़ा, पुरवा, हाँडी आदि मिट्टी से बनी हुई वस्तुएँ केवल कहने भर के लिए अलग-अलग हैं, वास्तव में भिन्न कुछ नहीं हैं उनमे केवल मिट्टी ही सत्य है। इसी तरह जैसे सोने के एक टुकड़े का ज्ञान होने के बाद उसमे बनी हुई तमाम चूड़ी, कड़े, कुण्डलादि वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है और यह भी मालूम हो जाता है कि कड़े, कुण्डल, चूड़ी, आदि सोने से बनी हुई वस्तुएँ केवल कहने भर के लिए अलग-अलग हैं, वास्तव मे उनमे नाम और रूप के अलावा कुछ भी नहीं है, केवल सोना ही सत्य है। और भी, जैसे लोहे की बनी हुई नाखून काटने वाली नहन्नी के देखने से लोहे का ज्ञान हो जाने के बाद उससे बनी हुई तलवार फावड़े आदि वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है और यह भी मालूम हो जाता है कि उन तलवार फावड़े आदि लोहे की वस्तुओं मे केवल नाम और रूप का ही फरक है सब मे एक मात्र लोहा ही सत्य है, उसी प्रकार यह विद्या भी है, जिसकी चर्चा मैने की है।'

श्वेतकेतु विस्मय मे पड़ गया। बोला—'तात! निश्चय ही मेरे आचार्य को इस विद्या का ज्ञान नही था। क्योकि यदि वे इसे जानते होते तो मुझसे स्वप्न मे भी न छिपाते। भगवन्! आप इस विषय को खूब स्पष्ट करने की कृपा करें।'

'वत्स! सुनो मै विस्तारपूर्वक उसे बता रहा हूँ।' यह कह कर श्वेतकेतु से उद्दालक ने फिर कहा—'बेटा! सृष्टि के आरम्भ में समस्त विश्व केवल 'सत्' रूप मे विराजमान् था, अर्थात् इस सृष्टि-चक्र का केवल मूल तत्त्व ही उस समय विद्यमान् था। वह केवल अकेला था, सृष्टि के समस्त बीज उसमें निहित थे, उसका नाम रूप कुछ नही था, अर्थात् वह एक दम निर्गुण, निराकार, अव्यक्त और अनन्तव्यापी

रूप मे विद्यमान था। उसी एक के जान लेने से ससार की सभी वस्तुएँ जान ली जाती हैं।'

श्वेतकेतु ने हाथ जोडकर विनीत स्वर मे कहा—'पूज्यपाद ! इस सृष्टि-चक्र के पहिले तो कुछ नहीं था। यदि 'सत्' को ही सृष्टि के पहले मान लिया जाय तो उससे पहले क्या था ?'

उद्दालक बोले—'सौम्य ! कुछ विद्वानो का ऐसा ही कहना है कि 'सत्' से भी पहले 'असत्' वर्तमान था अर्थात् उसमे सृष्टि का कोई भी बीज निहित नहीं था। उसी 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति हुई। पर वत्स ! जो विद्वान् ऐसा मानते हैं वे भूल करते हैं। यह सर्वथा असम्भव और असगत बात है। जिसमें सृष्टि का कोई बीज निहित ही नही रहेगा भला उससे 'सत्' की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? इसलिए बेटा ! तुम इसे अच्छी तरह समझ लो कि सब से पहिले केवल एक मात्र और अद्वितीय 'सत्' वर्तमान था।'

श्वेतकेतु ने सकुचाते हुए पूछा—'तात ! तो उस 'सत्' से इस चराचर जगत् की सृष्टि किस प्रकार हुई ? जब वह अकेला और अद्वितीय था तो इस विशाल जगत् की उत्पत्ति उसने कैसे कर दी ?'

उद्दालक बोले—'वत्स ! उसी 'सत्' ने यह इच्छा की कि मै अकेला हूँ, बहुत रूपो मे हो जाऊँ। यह इच्छा मन में उत्पन्न होने पर उसने सबसे पहले तेज की सृष्टि की। उसी तेज ने फिर यह इच्छा की कि 'मै' बहुत रूपों मे व्यक्त हो जाऊँ।' उसके ऐसी इच्छा करने पर फिर जल की उत्पत्ति हुई। यही कारण है कि जब कभी तेज से शरीर मे गरमी लगती है तब उसी ताप के कारण पसीना टपकने लगता है। यहाँ तेज अर्थात् उसी ताप के कारण ही जल अर्थात् पसीना की उत्पत्ति हुई।'

श्वेतकेतु ने कहा—'तात ! यह बात मेरी समझ में आ गई। पर जल के बाद फिर शेष सृष्टि किस प्रकार विस्तारित हुई ?'

उद्दालक ने उत्तर दिया—'वत्स ! उस जल ने जब यह इच्छा

की कि 'मै अनेक रूपों में व्यक्त होऊँ' तो उसके इस प्रकार इच्छा करने पर अन्न की उत्पत्ति हुई। इसीलिए जहाँ-कहीं जब कभी वर्षा होती है तब वहाँ अन्न अवश्य उत्पन्न होता है। अर्थात् जल से अन्न की सृष्टि होती है। इन्ही तीनों पदार्थों मे ससार की सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। ससार मे जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सब इन्हीं तीनों की मिलावट से बनी हैं। जहाँ कहीं प्रकाश या गरमी है वहाँ समझ लेना चाहिए कि तेज पदार्थ की प्रधानता है। जहाँ तरलता या प्रवाह है वहाँ जल पदार्थ की प्रधानता है और जहाँ कठोरता है वहाँ अन्न या पृथ्वी की प्रधानता है। अग्नि मे जो तुम लाल, सफेद और काला रग देखते हो उसमे ललाई तेज की, सफेदी जल की और कालिमा पृथ्वी की चीज है। यही बात सूर्य में, चन्द्रमा मे और बिजली मे भी जान लो। इन सब मे वही एक मात्र 'सत्' ही विद्यमान है। यदि अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और बिजली मे से 'सत्' से निकले हुए तेज, जल और पृथ्वी को निकाल लिया जाय तो सब खतम हो जायँ। अग्नि का अग्निपन, सूर्य का सूर्यपन, चन्द्रमा का चन्द्रमापन और बिजली का बिजलीपन बीत जाय, नाम निशान कुछ भी न रह जाय।'

श्वेतकेतु ने बीच ही मे पूछा—'तात! प्राणियों के भीतर एक ही पदार्थ किस प्रकार तीन रूपों मे अलग-अलग हो जाता है?'

उद्दालक ने प्रसन्न मन से हाथ उठाते हुए कहा—'वत्स! तुमने बडी अच्छी बात पूछी। मनुष्य के शरीर मे जाकर खाया हुआ अन्न भी तीन भागों मे अलग हो जाता है। स्थूल, मध्यम और सूक्ष्म। उसमे जो स्थूल भाग होता है वह मैला बन जाता है, जो मध्यम भाग होता है वह मास बन जाता है और जो सूक्ष्म भाग होता है वह मन बन जाता है। इसी तरह पिये गये जल मे भी तीन भाग हो जाते हैं। जल का स्थूल भाग मूत्र, मध्यम भाग रक्त और सूक्ष्म भाग प्राण बनता है। तेल, मक्खन, घी आदि बलिष्ट पदार्थों के स्थूल भाग से हड्डी, मध्यम भाग से मज्जा याने हड्डी के भीतर का सार तथा सूक्ष्म भाग से वाणी

बनती है। तुम्हारी समझ मे यह बात आ गई होगी कि मनुष्य का मन सूक्ष्म अन्नमय है, प्राण सूक्ष्म जलमय हैं और वाणी सूक्ष्म तेजोमय है। अर्थात् मन अन्न से, प्राण जल से और वाणी तेज से बनी हुई है।'

श्वेतकेतु पिता की इस बात पर कुछ अधिक गम्भीर बन गया। थोड़ी देर तक सोचता रहा और फिर बोला—'तात! इस विषय को जरा और साफ करके बतलाइये।'

उद्दालक बोले—'बेटा! सुनो। जैसे दही के मथने पर उसमे छिपा हुआ सूक्ष्म सार भाग ऊपर मक्खन के रूप मे तैरने लगता है, इसी प्रकार जो अन्न मनुष्य खाता है पेट मे पचते समय उसके सार भाग मे मन बन जाता है। जल के सूक्ष्म भाग से प्राण बन जाते हैं और घी आदि तेजोमय पदार्थों के सूक्ष्म भाग से वाणी बन जाती है। असल मे ये मन और प्राण शुरू-शुरू मे उसी अकेले और अद्वितीय 'सत्' से ही निकले हुए हैं। जिसका स्पष्ट वर्णन मै अभी तुम्हारे सामने कर चुका हूँ। वही 'सत्' ही इन सब का मूल आश्रय और अधिष्टान है। उस एक 'सत्' को छोड़ कर सब केवल कहने भर के लिए अपनी अपनी सत्ता मे बने हुए हैं। तुम भी वही 'सत्' ही हो और मै भी वही 'सत्' ही हूँ। उस 'सत्' अर्थात् आत्मा के अलावा तुम मे हम मे और कुछ नहीं है।'

श्वेतकेतु ने कहा—'तात! एक दूसरे दृष्टान्त से भी जरा इस विषय को और स्पष्ट कर दीजिए, क्योंकि यह विषय कुछ गूढ मालूम हो रहा है।'

उद्दालक बोले—'वत्स! सुनो। एक नही कई दृष्टान्त देकर समझा रहा हूँ। जैसे शहद की मक्खी अनेक तरह के फूलो के रस को इकट्ठा करती है, और सब के रस मिलकर शहद रूप मे बदल जाते हैं और उस हालत मे किसी एक फूल का रस यह नही जानता कि मै आम के बौर का रस हूँ या मौलसिरी के फूल का रस हूँ, इसी

प्रकार सृष्टि के अन्त मे परम सुषुप्ति अवस्था मे संसार की सभी जीवात्माएँ उसी 'सत्' वस्तु मे मिल जाती हैं तो यह नहीं जानती कि हम 'सत्' मे मिल गई हैं और मिलने के पहले क्या थीं? उस 'सुषुप्ति' से जागकर वे फिर अपने-अपने पहले वाले शरीर को प्राप्त करती हैं। वही सूक्ष्म तत्त्व ही आत्मा है और वही 'सत्' है। इसी तरह जैसे समुद्र के जल से बनी हुई गगा, जमुना, गोमती, नर्मदा आदि नदियाँ अन्त मे फिर उसी समुद्र मे ही मिल जाती हैं और यह नही जानतीं कि मै गंगा हूँ, मै जमुना हूँ, मै गोमती हूँ, मै नर्मदा हूँ, और फिर बादल के द्वारा वृष्टि जल के रूप में समुद्र से बाहर निकल आती हैं किन्तु यह नहीं जानतीं कि हम समुद्र से ही निकली हैं। इसी प्रकार ये सभी जीव समूह 'सत्' मे से निकलकर 'सत्' मे ही फिर लीन हो जाते हैं और फिर उसी में मिलते हैं किन्तु यह नहीं जानते की हम 'सत्' से आये हैं और फिर उसी मे मिलेगे।'

श्वेतकेतु ने पूछा—'तात! मैं आत्मा के 'सत्' से उत्पन्न होने की और फिर उसी में मिलने की बात तो समझ गया। अब मुझे कृपया मृत्यु के बारे मे बतलाइये। क्योंकि शरीरधारी तो थोड़े ही दिनों के बाद मर जाते हैं और फिर जन्म लेते हैं तो उस 'सत्' से कैसे बार बार मिलते हैं और बार-बार अलग होते हैं?'

उद्दालक ने कहा—बेटा! जीवात्मा कभी मरता नहीं। वह एक शरीर से दूसरे मे, दूसरे से तीसरे मे बदलता रहता है। और जीव रूपी सूक्ष्म तत्त्व ही आत्मा कहा जाता है। उसे इस तरह से समझो। किसी बहुत बडे पेड की जड पर कोई टागे की एक चोट करे तो वह सूख नहीं जाता, जीता रहता है और उस चोट मे से कुछ दिनों तक रस गिर कर ठीक हो जाता है। पेड के बीच मे भी छेद करने पर वह नहीं सूखता, जीता रहता है और छेद मे से रस गिरता है। जब तक उसमे जीवात्मा व्याप्त रहता है तब तक मूल के द्वारा जल ग्रहण करता हुआ जीता रहता है। जब उस बडे पेड की एक शाखा से जीव निकल जाता

है तब वही शाखा सूख जाती है, दूसरी शाखा से निकलने पर दूसरी सूख जाती है और तीसरी से निकलने पर तीसरी सूख जाती है। मगर पेड तब तक जीता रहता है जब तक समूल नहीं सूख जाता। जब सारे वृक्ष को जीव छोड देता है तब वह सब का सब सूख जाता है और वही उसकी सही मृत्यु कही जाती है। ठीक यही हाल जीवात्मा का है। वह एक योनि से दूसरी योनि मे भटकता रहता है। जब इस समस्त ससार का प्रलय होता है तब वह जीवरूप सूक्ष्म तत्त्व आत्मा भी उस 'सत्' पदार्थ मे मिल जाता है। क्योंकि वह स्वयं 'सत्स्वरूप' है।'

श्वेतकेतु बोला—'भगवन्! वह सूक्ष्म 'सत्' इस विशाल ससार का आधार कैसे बन सकता है। इतना बड़ा ससार भला उसमे किस तरह से टिक सकता है? यह बात मेरी समझ मे नही आ रही है।'

श्वेतकेतु और उद्दालक जहाँ बैठे थे, वहाँ सामने ही एक विशाल वट वृक्ष था, उसके फल पक-पक कर जमीन पर गिरे हुए थे। उद्दालक ने कहा—'बेटा! एक बरगद का फल उठा लाओ, फिर तुझे बताऊँगा।'

श्वेतकेतु फल ले आया। उद्दालक ने कहा—'इसे फोड कर देखो, इसमे क्या है?'

श्वेतकेतु ने फल को तोड़कर कहा—'तात! इसमे बहुत छोटे-छोटे बीज हैं।'

उद्दालक बोले—'वत्स! उनमे से एक बीज ले लो और उसे तोडकर देखो कि उसमे क्या चीज है?'

श्वेतकेतु ने वट-बीज को तोडकर कहा—'तात! इसमें तो मुझे कुछ भी नही दिखाई पड रहा है।'

उद्दालक ने कहा—'वत्स! इस छोटे बीज मे छिपी हुई उस सूक्ष्म वस्तु को हम तुम नहीं देख सकते जो इतने बडे वट वृक्ष का आधार है। ठीक इसी प्रकार वह सूक्ष्म 'सत्' आत्मा भी इस समस्त विशाल संसार का आधार है उसे हम तुम इस तरह देख नहीं सकते।'

श्वेतकेतु ने कहा—'तात ! इस विषय को जरा और स्पष्ट करके बतलाइये, जिससे समझ मे आ जाय ।'

उद्दालक बोले—'वत्स ! जाओ, कुटीर से एक नमक की डली और एक लोटा पानी ले आओ ।'

श्वेतकेतु ने ऐसा ही किया । उद्दालक ने कहा—'बेटा ! उस नमक की डली को उसी लोटे भर पानी मे डाल दो और रातभर अपने पास रखो । रात अधिक बीत गई है, अब कल मध्याह्न मे फिर इस विषय की चर्चा की जायगी । जाओ, शयन करो ।'

श्वेतकेतु पिता के चरणों मे शिर झुकाकर माता के पास गया और वहाँ से अपने सोने लिए कुश का आसन लेकर सो रहा । उस अँधेरी आधी रात मे भी उसके हृदय मे चाँदनी की तरह निर्मल प्रकाश फैल रहा था । पिता के गभीर ज्ञान की गरिमा से वह विस्मय मे धँसा जा रहा था ।

दूसरे दिन मध्याह्न के समय लोटे को लेकर जब श्वेतकेतु पिता के पास विद्या सीखने के लिए फिर पहुँचा तब वे मुसकराते हुए बोले—'वत्स ! कल रात मे जो नमक की डली तुमने लोटे मे डाली थी उसे निकाल कर मुझे दो ।'

श्वेतकेतु ने देखा तो लोटे मे डली का कोई नाम निशान बाकी नहीं था । उसने कहा—'तात ! डली तो गल गई, वह पानी मे कहाँ से मिल सकती है ?'

उद्दालक ने कहा—'अच्छा वत्स ! इस जल के एक कोने से थोडा-सा चखकर मुझे यह बताओ कि वह कैसा है ?'

श्वेतकेतु ने आचमन करते हुए कहा—'तात ! यह खारा जल है, क्योंकि नमक इसी मे गला हुआ है न !'

उद्दालक ने कहा—'अच्छा ! दूसरे कोने से तथा बीच मे से भी चख कर बताओ कि वहाँ का जल कैसा है ?'

श्वेतकेतु ने दोनों जगहों से आचमन करने के बाद कहा—'यहाँ

का जल भी उसी तरह खारा है। मैने जो नमक इसमे डाला था, वह सब गलकर इसमें व्याप्त हो गया है, उसे मै देख नही सकता, केवल जीभ से स्वाद ले सकता हूँ।'

उद्दालक बोले—'वत्स ! जिस तरह से वह नमक की डली इस जल मे सब जगह व्याप्त है और तब तक व्याप्त रहेगी, जब तक यह जल रहेगा, अर्थात् सर्वदा व्याप्त रहेगी, उसे तुम आँखों से नही देख सकते, ठीक उसी तरह इस विशाल ससार मे व्याप्त उस 'सत्' स्वरूप सूक्ष्म आत्मा को इन आँखों से तुम देख नही सकते, सिर्फ अनुभव कर सकते हो।'

श्वेतकेतु के मन मे एक बात फिर उठ खडी हुई। वह विनीत वाणी मे बोला—'पूज्य तात ! मेरी समझ मे सब बाते तो बैठ गई पर एक बात जानना बाकी है कि जीव किस प्रकार के मार्ग से चलकर उस 'सत्' आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव कर उसे शीघ्र प्राप्त कर सकता है।'

उद्दालक को पुत्र की इस जिज्ञासा से मालूम हो गया कि वह उनके बतलाए गये विषय को पूरी तरह से समझ गया है और अब उसकी अविद्या दूर हो गई है। वे मुसकराते हुए बोले—'वत्स ! जैसे चोर किसी धनी मनुष्य को लूटने के फेर मे उसकी आँखो पर पट्टी बाँधकर उसे बहुत दूर जगल मे छोड़ आता है, जहाँ पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन दिशाओ की भी कुछ पहचान नहीं रहती और वह वहीं अपनी सहायता के लिए चिल्लाता है तो कोई दयालु पुरुष उससे उसका पूरा पता पूछ कर घर की राह बतला देता है और वह उसकी बातों पर विश्वास करके फिर से अपने घर पहुँच जाता है वैसे ही अज्ञान और अविद्या की पट्टी बाँधे हुए काम, क्रोध, लोभ, अभिमान आदि भीषण चोरों के द्वारा संसार-रूपी भयकर वन मे छोडा हुआ जीव ब्रह्मज्ञानी अच्छे गुरु के दयालुतापूर्वक बताए गए मार्ग पर चलकर अविद्या और अज्ञान के फदे से छूटकर अपने मूल स्वरूप 'सत्' आत्मा को बहुत जल्दी ही प्राप्त हो जाता है। वह 'सत्' ही इस जगत्

का एकमात्र मूल कारण है। वही जानने योग्य है। उसी के सुन लेने से न सुना हुआ विषय भी सुनाई पड़ता है, समझ लेने से न समझा हुआ विषय भी समझ मे आ जाता है और जान लेने से न जाना हुआ विषय भी जाना जाता है। वही 'सत्' ही जगत् की आत्मा है। तुम भी वही हो और मै भी वही हूँ।'

× × ×

श्वेतकेतु की समझ मे सब बात आ गई। इस परम विद्या के शुभ्र प्रकाश से उसका मानस सुप्रकाशित हो गया। उसने उठकर अपने पूज्य पिता के चरणो पर अपना शिर रख दिया। कृतज्ञता के आँसू से उसकी दोनों आँखें भर आई और रोमावलि खड़ी हो गई।[1]

---

[1] छान्दोग्य उपनिषद् से।

# अश्विनीकुमार और उनके गुरु दध्यङ्

[ ११ ]

अश्विनीकुमार देवताओं के वैद्य कहे जाते हैं। ये दो भाई हैं, नासत्य और दस्र। ये दोनों भगवान् भास्कर अर्थात् सूर्य के पुत्र कहे जाते हैं। पुराणों मे तो इनकी उत्पत्ति की कथा भी बडी विचित्र बतलाई जाती है। कहा जाता है कि ये दोनों भाई अश्विनी अर्थात् घोडी का रूप धारण करनेवाली भास्कर (सूर्य) की पत्नी सज्ञा से उत्पन्न हुए हैं। एक तरह से यमराज और यमुना भी इनके बडे भाई और बडी बहिन हैं। शायद यमराज अर्थात् मृत्यु के भाई होने के कारण ही ये देवताओं के बहुत बडे वैद्य कहे गए हैं। ये दोनों भाई देखने मे सभी देवताओं से अधिक सुन्दर और हृष्टपुष्ट थे। सदा अपने बनाव सिगार मे लगे रहते थे और अपनी विद्या और योग्यता के अभिमान में दूसरे देवताओं का अक्सर अपमान भी कर दिया करते थे। इतना ही नहीं एक बार तो इन दोनों भाइयों ने देवताओं के राजा इन्द्र का भी अपमान कर दिया था और अपनी विद्या के नशे मे उन्मत्त होकर उन्हें खूब डाँटा-फटकारा भी था। कहा जाता है कि इसी कारण मे इन्द्र ने यज्ञों से इनका एकदम बहिष्कार कर दिया था और आज तक इसीलिए यज्ञ-यागादि मे इनका

आवाहन कम होता है या बिल्कुल ही नहीं होता। इन्द्र के साथ इनकी दुश्मनी इसी कारण से बहुत बढ़ गई थी।

अश्विनीकुमार के गुरु दध्यङ् अथर्वण ऋषि थे, जिनके गुरुदेव स्वय अथर्वा ऋषि थे। दध्यङ ऋषि वेदमन्त्रो के बनानेवाले ऋषियो मे से थे। वह बहुत बड़े ब्रह्मज्ञानी तथा महात्मा थे। अपनी शिष्य मण्डली मे यद्यपि वह दोनों अश्विनीकुमारों की बुद्धि और प्रतिभा पर बहुत खुश रहते थे मगर सारी विद्या पढाने के बाद भी उन्होंने ब्रह्मविद्या का उपदेश उन्हे नही किया था, क्योंकि वह जानते थे कि ये दोनो अश्विनीकुमार सदा अपने लौकिक ऐश्वर्य और बनाव सिगार मे लगे रहनेवाले विद्यार्थी हैं, और ऐसे विद्यार्थी को ब्रह्मविद्या का उपदेश करना कुत्ते को गगा स्नान कराने के समान है।

लौकिक विद्याओं मे अर्थात् वैज्ञानिक चीर-फाड और दवा दारू मे दोनो अश्विनीकुमार इतने प्रवीण हो गए थे कि विद्यार्थी जीवन मे ही उनका चारों तरफ नाम हो गया था। अपने इस अभिमान मे डूबकर वह ब्रह्मविद्या सीखने की बहुत चेष्टा भी नहीं कर सके। इन्द्र का अपमान कर देने के कारण सब देवता लोग जब इनके ऊपर जी जान से नाराज हो गये और एक मत होकर यज्ञ मे इनको न सम्मिलित करने पर उतारू हो गए तब अश्विनीकुमारों की आँख खुली। इन्होंने इसके लिए बहुत दौड धूप और कोशिश पैरवी भी की मगर सफलता नहीं मिल सकी। उसका एक कारण यह भी बताया गया कि यह ब्रह्मविद्या के जानकार नहीं हैं और भौतिक विद्या के अधिकारी को यज्ञ मेसम्मिलित करना यज्ञ का अपमान करना है। इस तरह कोशिश पैरवी के बाद भी जब यह लोग एकदम निराश हो गये तब अपनी भूल पर दुःखी हुए और अपने पूज्य गुरु दध्यङ ऋषि के पास पहुँचे।

गुरु ने अपने प्रिय छात्रो का बडा सम्मान किया और कुशल प्रश्न के बाद उनके आने का कारण पूछा। दोनों भाई हृदय मे इस अपमान से बहुत दुःखी तो थे ही। गुरु से बाते करते समय

उनकी आँखो से अमर्ष के आँसू निकलने लगे, गला रुद्ध हो गया और मुख मण्डल लाल वर्ण का हो गया। थोडी देर तक चुप रहने के बाद विकम्पित स्वर मे बडे भाई नासत्य ने कहा—'गुरुदेव! अभिमानी देवराज हमसे हृदय में बहुत जलन रखता है। और वह फूटी आखों से भी हमें देखना पसन्द नहीं करता। बहुत दिन हुए एक बार उससे हम लोगों की कहा सुनी हो गई थी, उसी बात की कसर वह निकालना चाहता है और यज्ञ-यागादि से हमारा बहिष्कार करवा रखा है। इस अपमान जनक स्थिति में हमारा देवलोक मे रहना भी दूभर बन गया है। हम चाहते हैं कि उससे इस अपमान का बदला चुकाएँ।'

दध्यङ ऋषि लोक व्यापारों से विमुख रहने वाले जीव थे। शिष्यों की उत्तेजक बातें उनके कानों मे पडकर विलीन हो गई। न तो उनके चेहरे पर कुछ विकार हुआ और न वाणी मे शिष्यों के प्रति सहानुभूति। अपने स्वाभाविक गम्भीर स्वर मे बोले—'वत्स! इन्द्र देवलोक का राजा है। उसके प्रति दुर्भावना रखना ही तुम्हारा घोर अपराध है। किसी से भी ईर्ष्या-द्वेष करना तुम्हे शोभा नही देता। यज्ञ मे ससार से विरक्त रहने वाले देवताओं को भाग मिलता है। उन्हे ब्रह्म विद्या का पूर्ण जानकार भी होना चाहिये, तुम दोनों मे यह विशेषताएँ नहीं हैं। ऐसी हालत मे यदि तुम लोग यज्ञ मे निमन्त्रित नही किए जा रहे हो तो कोई कुपद नही हो रहा है। यज्ञ मे भाग प्राप्त करने के लिये पहले तुम्हें काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, पाषण्ड और द्वेष आदि मानसिक बुराइयों से दूर होने का प्रयत्न करना चाहिये। तुम लोगों का हृदय साफ नहीं है। लोक-व्यापारों मे इतनी ममता और आसक्ति रखकर तुम लोग यज्ञ मे भाग प्राप्त नहीं कर सकते। मै इस कार्य में देवराज की शिकायत सुनना पसन्द नहीं करता।'

दोनों भाइयों की आशा का पहाड ढह गया। गुरु के अलावा उनका सच्चा हितैषी कोई दूसरा नहीं था। एक दिन की शिक्षा और अभ्यास से जीवन भर की अपनाई गई बुराइयाँ तो दूर हो नहीं

सकती थीं। उनके हृदय में तूफान उठकर वाणी से बाहर निकलने को विवश करने लगा। छोटे भाई दस्र ने हाथ जोडकर कहा—'पूज्य गुरुदेव ! इन्द्र से इस घोर अपमान का बदला चुकाये बिना हमारे हृदय की जलन शान्त नहीं हो सकती। हमे यज्ञ मे भाग मिले या न मिले मगर इन्द्र से बदला चुकाना तो बहुत जरूरी काम है। आप ऐसी किसी औषधि या विद्या की जानकारी हमे कराइये जिससे इन्द्र का मानमर्दन कर सकें। उसके बाद ही हम अपनी बुराइयाँ छोड़ सकते हैं।'

दध्यङ ने मुसकराते हुए दाहिना हाथ उठाकर कहा—'आयुष्मन् ! वैसी विद्या या औषधि तुम्हारे गुरुदेव के पास नहीं है, जिसका उपयोग देवराज के मानमर्दन मे या वैर-निर्यातन मे हो। बुराइयाँ सन्तोष, मनोनिग्रह और इच्छाओं के दमन से दूर हो सकती हैं। बदला चुका लेने के बाद फिर तुम कभी शान्त नही हो सकते। देवराज अमरों का स्वामी है, उसकी शक्ति-सामर्थ्य अजेय और निस्सीम है। वह बदला चुकाए जाने के बाद क्या चुप रहेगा ? और उस हालत मे तुम्हारी शान्ति सदा के लिए दूर हो जायगी और नई-नई बुराइयाँ उठने लगेंगी। जीवन नरक बन जायगा। इसलिए मेरा सुझाव है कि तुम लोग जाकर मन और इन्द्रियों को वश मे करने का अभ्यास करो। दुनिया मे किसी से भी ईर्ष्या-द्वेष मत करो, सन्तोषी बनो और हिंसक स्वभाव छोड दो।'

बड़े भाई नासत्य से नही रहा गया। हाथ मलते हुए बोला—'पूज्य गुरुदेव ! आप की शिक्षा तो हम शिर से धारण करते हैं मगर इन्द्र ने हमारा जो अपमान किया है उसे भूल जाना हमारे लिए सम्भव नहीं है। जब हृदय मे आग जलती रहती है तो मन या इन्द्रियों मे सन्तोष की वृत्ति कैसे आ सकती है ? हम यह मानते हैं कि वैर-शोधन के बाद हमे इन्द्र से सदा के लिए झगड़ा मोल लेना पड़ेगा और हमारे जीवन की शान्ति विदा हो जायगी मगर कोई ऐसा उपाय तो आप को बताना

ही पड़ेगा जिससे हमारा खोया हुआ अधिकार हमे फिर वापस मिले। हम देवराज से वैर चुकाना नही चाहते पर अपना अधिकार छोडकर जीवित रहना भी हमारे लिए कठिन है। गुरुदेव ! जाति का अपमान सब से कठिन होता है, उसको भूलना आप जैसे ब्रह्मर्षियों से ही सम्भव है, हम से नही।'

दस्र बडे भाई नासत्य का मुँह ताकने लगा। उसे यह बात बहुत पसन्द नहीं आई पर करता क्या ?

दध्यङ को अपने प्रिय शिष्य की इस प्रार्थना मे सत्य और स्वाभाविकता की कुछ गध मिली। कुछ देर तक वह जाने क्या विचारते रहे, फिर बोले—'आयुष्मन् ! तुम्हारी यह बात मुझे जॅच रही है, इसका उपाय तुम्हे बता रहा हूँ पर याद रखो कि उसे तुम्हे मानना पडेगा।'

नासत्य ने हाथ जोड विनीत स्वर मे कहा—'गुरुदेव ! आप की आज्ञा का उल्लघन करना हमारे वश की बात नही है।'

दध्यङ बोले—'आयुष्मन् ! यज्ञ मे तुम्हारे खोये गए अधिकारो की प्राप्ति तुम्हें दो उपायों से ही हो सकती है। पहला उपाय तो बहुत आसान है पर मुझे विश्वास नहीं है कि तुम लोग हमारा कहना मनोगे।'

नासत्य ने कहा—'आचार्य ! मै प्राण देकर भी आप की आज्ञा पूरी करूँगा।'

दध्यङ ने कहा—वत्स ! पहला उपाय यही है कि तुम लोग ब्रह्म विद्या प्राप्त करने के अधिकारी बनो और अपने सहज अधिकारों से यज्ञ भाग के उपभोक्ता बनो। पर जानते हो तुम्हारा जीवन सात्त्विक नहीं है और असात्त्विक जीवन वाले को ब्रह्म विद्या की कदापि प्राप्ति नहीं हो सकती। मै तुम्हे ब्रह्मविद्या सिखाने की प्रतिज्ञा तो कर लेता हूँ पर इस शर्त पर कि तुम काम, क्रोध, ईर्ष्या, मोह द्वेषादि को जीतकर स्वल्प सन्तोषी और लौकिक व्यापारो से अनासक्त बनकर मेरे पास आओ। इस साधना के लिए तुम्हे मैं बारह वर्ष की अवधि दे रहा

हूँ। धीरे-धीरे इन्द्रियो को वश मे करते-करते तुम तब तक उस स्थिति में पहुँच जाओगे जिसमे ब्रह्मविद्या की प्राप्ति सम्भव होती है।'

छोटे भाई दस्र को गुरु दध्यङ की बाते नहीं भाईं। वह बीच ही मे बोल पड़ा—'गुरुदेव! हमे कृपा करके वह दूसरा उपाय बताइये।'

नासत्य चुपचाप छोटे भाई की ओर ताकने लगा।

दध्यङ ने कहा—'वत्स दस्र! दूसरा उपाय कुछ कठिन है पर तुम अध्यवसायी हो, उसे भी साध्य कर सकते हो। महात्मा च्यवन नाम के एक ऋषि हैं। उनकी पत्नी सुकन्या एक बड़े राजा की पुत्री है। वे महात्मा च्यवन अपनी घोर तपस्या से त्रैलोक्य को विचलित कर चुके हैं। सुरराज इन्द्र तो उनका नाम सुनते हुए कॉपता है। च्यवन की ऑखे फूट गई हैं, उनका ऐहिक जीवन दुःखमय हो गया है, इसी चिन्ता मे उनका शरीर शिथिल हो गया है, यदि तुम लोग उनकी ऑखें अच्छी कर सको और उन्हे शरीर से पूर्ण नीरोग बना सको तो मुझे विश्वास है कि वे तुम्हे यज्ञ मे भाग दिलाने की व्यवस्था बॉध सकेंगे। उनका तपःतेज ससार मे कोई भी काम करा सकता है, यह तो बहुत मामूली बात है।'

कुमार दस्र मारे खुशी के नाच उठा। फूटी हुई ऑखे बना देना और रोगी को नीरोग तथा पुष्ट बना देना उस के बाएँ हाथ का काम था। बड़े भाई नासत्य की ओर देखते हुए बोला—'तात! मुझे यही उपाय सरल मालूम पड रहा है। हम बहुत जल्द ही महात्मा च्यवन को चगा कर के अपनी कामना पूरी कर सकेंगे। चलिए, चलें, अब देर करने की जरूरत नहीं है।'

नासत्य को भी छोटे भाई की बात अच्छी लगी। उसने हाथ जोड़ कर दध्यङ से जाने की आज्ञा मॉगते हुए कहा—'गुरुदेव! मुझे अब उन महात्मा च्यवन का आश्रम बताइये। आपने जो उपाय हमें बताए हैं हम उन दोनों को पूरा करने की कोशिश करेंगे।'

दध्यङ बोले—'आयुष्मन्! आजकल महात्मा च्यवन का आश्रम

बदरीवन में गंगाद्वार के समीप है। क्या तुम अभी तक उनका आश्रम भी नहीं जानते थे? जाओ, तुम्हारी कामनाएँ सफल होंगी। पर वत्स! यह याद रखना कि इन दोनों में से किसी भी उपाय में प्रतिहिंसा या बदला लेने की भावना से नहीं बल्कि अपने अधिकारों को प्राप्त करने की भावना से ही प्रयत्न करना, तभी सच्ची सफलता भी मिलेगी। ईर्ष्या और द्वेष का काँटा जब तक मन में बना रहता है तब तक सफलता मिलने पर भी सच्ची शान्ति नहीं मिलती और बिना शान्ति के सच्चा सुख नहीं मिलता।'

दोनों अश्विनीकुमार अपने गुरु दध्यङ के चरणों पर शीश रखकर बदरीवन की ओर रवाना हो गए। उस समय उनके हृदय में उल्लास की तरंगे लहरा रही थीं।

× × ×

देवताओं के स्वामी इन्द्र को एक हजार आँखे कही जाती हैं। उसका मतलब यह है कि वह बडे चतुर, नीतिमान और त्रैलोक्य भर मे होने वाली बातों की सदा खबर रखते थे। दोनों अश्विनीकुमारों के मन मे जो मैल भरी थी उसका उन्हे पहिले ही से पूरा पता था। इधर दध्यङ ऋषि के साथ दोनों भाइयों की जो बातें हुई वह भी उन्हें उसी क्षण मालूम हो गई। ब्रह्मर्षि दध्यङ के ब्रह्मज्ञान और त्याग की कथा तथा च्यवन की तपस्या और ब्रह्मतेज की बात से भी वह मन ही मन बहुत पहले से ही घबराते थे। दोनों अश्विनीकुमारों के अशिष्ट स्वभाव का हाल उन्हें मालूम ही था इसलिए ज्योंही सब बातें मालूम पडीं तुरन्त ही उन्हें विफल बनाने मे तत्पर हो गए।

रात में अपने पुरोहित के साथ दध्यङ के पास चलने की बात पक्की करके प्रातःकाल होते-होते अपने पुष्पक विमान पर चढकर वह उनके आश्रम में पहुँच गये। महर्षि दध्यङ उस समय अपने शिष्यों को पढा रहे थे। आश्रम में देवराज के समागम को सुनकर चारों ओर खलबली मच गई। जो जहाँ थे वहीं से दौडकर

चारों ओर घेर कर खड़े हो गये। महर्षि दध्यङ को जब देवराज इन्द्र के अपने आश्रम में आने का समाचार मालूम पड़ा तो वह भी महान् अतिथि के सत्कारार्थ शिष्यों के साथ अगवानी के लिए आगे बढ़े। देवराज ने ब्रह्मर्षि को अपनी ओर आते देखकर स्वयं आगे बढ़कर दण्डवत् प्रणाम किया। विरागी दध्यङ के मन में इन्द्र की इस विनीतता का बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। उन्होंने उसे अपने दोनों हाथों से उठाकर छाती से लगाया और कुशल प्रश्न किये। नीतिमान सुरराज सब के सामने मन की बात क्यों कहता। मुसकराते हुए बोला—'ब्रह्मर्षे! यों ही आप के दर्शनों की बहुत दिनों से इच्छा थी, आज मौका निकाल कर चल पड़ा। आप जानते ही हैं हमारे शिर पर इतने झंझट हैं कि कभी शिर उठाने की भी फुर्सत नहीं मिलती। बहुत इच्छा करके भी कहीं आ जा नहीं सकता।'

दध्यङ मुसकराते हुए अपने कुटीर की ओर चलने का संकेत करते हुए बोले—'देवराज! अधिकार की रक्षा करना मामूली काम नहीं है, इतने बड़े साम्राज्य का भार ढोने वाला कभी सन्तोष और सुख कैसे भोग सकता है? आपने बड़ी कृपा की जो हमारे आश्रम को सनाथ किया। इतने बड़े अतिथि के शुभागमन से हम वनवासी आज कृतार्थ हुए।'

बातें करते-करते ब्रह्मर्षि अपने कुटीर के द्वार पर पहुँच गए, शिष्यों ने सुरराज के बैठने के लिए आसन बिछा दिया और समयोचित उपचारों से उनका अतिथि-सत्कार सम्पन्न किया। थोड़ी देर बाद दध्यङ की आज्ञा से पूरे गुरुकुल में ऐसे महान् अतिथि के शुभागमन के बदले में छुट्टी कर दी गई, अध्ययन बन्द करके सारी शिष्य-मण्डली खेल कूद और सैर-सपाटे में लग गई।

थोड़ी देर तक विश्राम कर लेने के बाद ब्रह्मर्षि ने इन्द्र से कहा—'देवराज! हमारे शास्त्रों ने अतिथि पूजा की महिमा का बड़ा गुणगान किया है। हम वनवासियों के यहाँ आप जैसे महान् सम्राट् का जो शुभागमन हुआ है उसकी प्रसन्नता हमारे मन में है। हम आप की

सेवा करने के लिये सर्वथा तैयार हैं। कहिये, हमारे लिए क्या आज्ञा है?'

सुरराज उत्तर मे पहले तो चुप बने रहे फिर महर्षि की ओर थोडी देर तक देखने के बाद बोले—'ब्रह्मर्षे! मैं एक अभिलाषा लेकर आप की सेवा मे आया हुआ हूँ, उसे पूर्ण कर आप मुझे सुखी बनाइये।'

दध्यङ ने कहा—'देवराज! हम आप को सेवा करने के लिये सर्वथा तैयार हैं। साधारण अतिथि भी हमारे पूज्य माने गए हैं तो फिर आप जैसे महान् अतिथि की एक बात को पूरी करके मै अपने कर्त्तव्य का पालन ही करूँगा, उसमे आप कोई निहोरा न मानें।'

सुरराज इन्द्र की मनचाही बात हो गई। अपने मायाजाल मे वह पूरी तरह दध्यङ को फँसा लेने के बाद हाथ जोडकर विनीत स्वर मे बोले—'मै आप से ब्रह्मज्ञान की दीक्षा लेना चाहता हूँ। यद्यपि हमारी दृष्टि मे इस ससार में अनेक ब्रह्मज्ञानी हैं, किन्तु आपके समान वीत-राग, उदार, मनस्वी और ब्रह्मनिष्ठ गुरु मुझे कही नही मिलेगा। राज-काज के झझटों से अवकाश लेकर मै इसी कार्य के लिये आप की सेवा मे उपस्थित हुआ हूँ। अब इसमे देर न कीजिये, आज बहुत अच्छा मगल मुहूर्त है, मुझे आज ही उस पावन विद्या का अधिकारी बनाकर कृतार्थ कीजिये।'

ब्रह्मर्षि दध्यङ अब पूरी तरह से फँस चुके थे। लोक व्यापारों एव मायाजाल मे रात दिन लगे रहने वाले, कूटनीतिज्ञ, विलासी और हिंसाप्रिय सुर-सम्राट् को ब्रह्मदीक्षा देना उनकी दृष्टि मे महान् पाप था। इसे वे ब्रह्मविद्या का अपमान करना मानते थे; पर अतिथि को जब एक बार पूज्य मानकर वचन दे चुके तो विचलित किस तरह हो सकते थे? बड़ी देर तक इसी उधेड़-बुन मे लगे रहे। सकल्प विकल्प की लहरों के थपेडों मे पडकर उनका विवेक चिन्ता के समुद्र मे डूबने-उतराने लगा। आखे इन्द्र की ओर से हटकर ऊपर फैले हुए विशाल आकाश मण्डल मे चारों ओर फैली हुई शून्यता का निरखने लगीं।

व भोग विलास को कुत्ते का जीवन बताया जाय। जिस ऐश्वर्य, सुख और भोग विलास आदि की प्राप्ति के लिए बडे-बडे ऋषि-महर्षि तपस्या करते-करते जिन्दगी बिता देते हैं और तिस पर भी उसे नही पाते वह कुत्ते का जीवन किस प्रकार हो सकता है। उन्होंने मन मे सन्देह किया कि ब्रह्मर्षि अपने प्रिय शिष्य अश्विनीकुमारो की प्रेरणा से मेरा अपमान कर रहे हैं। इनका हृदय पक्षपात के कारण कलुषित हो गया है। मेरा इतना घोर अपमान त्रैलोक्य मे कही नही हुआ। मन में इस सन्देह के अकुर ने थोड़ी ही देर मे वैर वृक्ष का रूप धारण कर लिया। उनकी आखे लाल हो गई, नाक से गरम उच्छ्वास निकलने लगे और मुख मण्डल पर लालिमा छा गई। बडी कठिनाई से भी वह अपने को रोक नही सके, जमीन पर से उठकर खड़े हो गए और बोले—'महर्षे! बस कीजिए, मुझे इससे अधिक अपमानित मत कीजिए, अन्यथा आप की खैर नही! त्रैलोक्य मे रहनेवाले किसी भी प्राणी में इतनी शक्ति या हिम्मत नहीं है कि मेरे सामने इस तरह की बातें करे। गुरु होने के कारण मैने आपका सारी आज्ञाओ का आँख मूँद कर पालन किया। पर उसका यह तात्पर्य नही है कि मेरा आत्माभिमान मर गया है और मै इतना हीन बन गया हूँ कि आप जो कुछ कहे चुपचाप सुनता चलूँ।'

दध्यड को ससार मे किसी से भय तो था नहीं। अपने स्वाभाविक स्वर मे बोले—'देवराज! हमे ससार मे आप ही पहले व्यक्ति मिले हैं जो ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के बाद भी इतने असन्तुष्ट और अशान्त हैं। हमने किसी राग द्वेष वश भोगो की निन्दा नही की है। आप जो चाहे कर सकते हैं, हमे किसी से भय भी नही है।'

इन्द्र को महर्षि दध्यड के इस अविनय से और भी क्रोध आ गया। स्वर को रूक्ष और कठोर बनाते हुए बोले—'महर्षे! आज अनेक कारणो से मै आप को छोड दे रहा हूँ मगर यदि फिर कभी किसी को इस ब्रह्मविद्या का उपदेश आप करेगे तो उसी क्षण अपने वज्र से आप

का शिर तोड दूँगा।'

दध्यङ के मन पर इन्द्र के इस दुर्व्यवहार का कोई प्रभाव नही पड़ा। वह पूर्ववत् शान्त बने रहे, क्रोध या क्षोभ की क्षीण रेखा भी नही उठी। मुसकराते हुए बोले—'सुरराज! बहुत अच्छी बात है, जब हम किसी को इस ब्रह्मविद्या का उपदेश करें तो हमारा शिर तोड दीजिएगा।'

क्रोध से पागल इन्द्र के मन पर महर्षि दध्यङ् की इस क्षमा और शान्ति का प्रभाव पडे बिना नहीं रह सका। पर एक बार उत्तेजित होने के बाद तुरन्त क्षमा माँगना उनकी प्रकृति के अनुकूल नही था। वह तुरन्त ही वहाँ से उठे और बिना ही प्रणाम आदि किए अपनी राजधानी की ओर रवाना हो गए।

× × ×

उधर महर्षि च्यवन के आश्रम मे पहुँच कर अश्विनीकुमारों ने अपने कौशल और बुद्धि-बल से उनकी आँखे ठीक कर दी और उन्हें जवान के समान सुन्दर, स्वस्थ और शक्ति-सम्पन्न कर दिया। सुकन्या और उसके पिता को इससे अपार खुशी हुई। च्यवन के आनन्द का कोई वारापार न रहा। मारे खुशी के वह नाच उठे। अश्विनी-कुमारों से प्रसन्न होकर बोले—'तात! आप लोगों की इस महान् कृपा को हम जीवन भर भूल नही सकते। हमारे जीवन को सुखी बनाकर आप लोगों ने न केवल हमे सन्तुष्ट बनाया है बल्कि सुकन्या और उसके पिता की भी बहुत विपत्तियाँ इससे दूर हो गई हैं। आप लोग इसके बदले में हमसे जो कुछ भी वरदान चाहे माँग सकते हैं।'

दोनों भाई बहुत प्रसन्न हुए। उनके मन की चिर अभिलाषा पूरी हुई। च्यवन की तपस्या का प्रभाव और महत्त्व की चर्चा वे पहले ही सुन चुके थे। थोड़ी देर तक बहुत कुछ सोच विचार कर छोटे भाई दस्र ने कहा—'महर्षे! यदि आप सचमुच हमारे ऊपर प्रसन्न हैं तो हमें यज्ञों मे भाग प्राप्त करने का अधिकारी बनाएँ। देवराज ने ईर्ष्यावश

हमारे विरोध में इतना दूषित प्रचार किया है कि सभी देवताओं के साथ ऋषियों ने हमे यज्ञ-भाग प्राप्त करने के अधिकार से वंचित कर दिया है। इस जातीय अपमान से हम बहुत दुःखी हैं।'

बड़े भाई नासत्य उस समय महर्षि च्यवन के मुख की ओर ताक रहे थे। दस्र की बातें सुनकर च्यवन बोले—'आयुष्मन्! आप की इच्छा पूर्ण होगी। हम शीघ्र ही एक बहुत बड़े यज्ञ मे आपको यज्ञ-भाग का अधिकारी बनाकर सदा के लिए वह मर्यादा स्थिर कर देंगे। देवराज का हमें कोई भय नही है। उनकी शक्ति का मुकाबला करने मे हम नहीं डरते, आप लोग निश्चिन्त रहें।'

× × ×

महर्षि च्यवन ने अपनी बात पूरी की। देवराज ने इसमें विघ्न पहुँचाने की जी-जान से कोशिश की मगर सब बेकार रहा। यहाँ तक कि मार पीट की भी नौबत आ गई थी पर कोई फल नहीं निकला। यज्ञ मे अश्विनीकुमारो को भाग मिल गया और इन्द्र का मान मर्दन हो गया।

यज्ञ मे भाग प्राप्त कर अश्विनीकुमारों का अमर्ष शान्त हो गया। अब वह अपने गुरु महर्षि दध्यङ के वचनों पर विश्वास रख जीवन की साधना मे लीन रह कर ब्रह्म विद्या प्राप्त करने की योग्यता की तैयारी मे लग गए। उन्हें अपनी इस साधना में सफलता भी मिली। चारों ओर जगत् मे उनके स्वभाव के परिवर्तन की प्रशसा होने लगी। देवताओ मे भी उनकी प्रतिष्ठा बहुत बढ गई। जहाँ जाने पर पहले कोई सीधी बात भी नहीं पूछता था वहाँ उनका स्वागत-समादर होने लगा। लोक व्यापारों से भी उनको विराग होने लगा और अब बनाव सिंगार की भावना भी समाप्त हो गई। अपने मृदु वचन, सदाचरण, सरलता, दया, शान्ति, सन्तोष, अहिंसा आदि सद्गुणों से वे बहुत सफल बन गए। अशान्ति और असन्तोष की आग उनके निर्मल मानस से सदा के लिए बुझ गई।

इस प्रकार वैराग्य आदि साधनों से सुसम्पन्न होकर वे दोनों भाई अपने गुरु महर्षि दध्यङ् के पास पहुँचे और ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए अपनी उत्कट इच्छा प्रकट करते हुए विनीत प्रार्थना करने लगे। महर्षि दध्यङ वडे असमजस मे पड गए। अश्विनीकुमारों के व्यवहार से उन्हें यह मालूम तो हो गया कि ये अब ब्रह्म विद्या को प्राप्त करने के सच्चे अधिकारी बन गए हैं, पर कठिनाई इन्द्र के अमर्प की थी। एक ओर वचन देकर भी योग्य शिष्यों को ब्रह्मविद्या न सिखाने का पाप लगता था और दूसरी ओर इन्द्र के वचन का उल्लघन करने के कारण उनको एक ब्रह्महत्या के लिए विवश करने का दोष लगता था। इस दुविधा मे पडकर वह बडी देर तक उलझे रहे और शिष्यों से इन्द्र के साथ हुए अपने विवाद की कथा बतलाते हुए बोले—'वत्स! हमें प्राणों का मोह नही है, वचन असत्य होने की अपेक्षा मृत्यु की गोद मे सो जाना अच्छा है। तुम्हारे साथ की गई प्रतिज्ञा का पालन करना हमारा धर्म है, पर इन्द्र को विवश होकर हमारी हत्या करनी पडेगी, यह भी एक पाप हमारे शिर लगेगा। ऐसी विपम स्थिति मे हमें कुछ निश्चित कर लेने दो। आज आश्रम मे शान्तिपूर्वक रहो, कल हम अपना निश्चित कर्त्तव्य करेंगे।'

अश्विनीकुमारों को गुरु की विवशता का जब पता लगा तब वह बहुत दुःखी हुए, पर विवेक और बुद्धि ने उनका साथ नही छोडा। थोडी देर बाद छोटे भाई दस्र ने कहा—'गुरुदेव! यदि ऐसी विवशता है तो मुझे उस ब्रह्म विद्या की कोई आवश्यकता नही है जिसके लिए आपको शरीर छोडना पड़े।'

दध्यङ ने दस्र की ओर देखकर मुसकराते हुए कहा—'वत्स! इस नाशमान् संसार मे जिसने भी जन्म लिया है वह एक न एक दिन मृत्यु की शरण मे तो जायगा ही। अपने किये गए कर्मों का फल तो उसे भोगना ही पडेगा। क्योंकि यह कर्मभूमि है। अच्छे या बुरे कर्मो का फल भोगने के लिए ही जीव को यहाँ आना पडता है। मृत्यु एक

निश्चित चीज है। उससे डर कर कोई बच नहीं सकता। आज या आज के सौ वर्ष के भीतर किसी न किसी दिन उसका सामना करना पड़ेगा ही। उससे जो डरता है वह कायर और पापात्मा है। अपने कर्त्तव्यों पर दृढ रहते हुए यदि मृत्यु प्राप्त हो जाय तो उससे अच्छी मृत्यु मिल ही नहीं सकती। वत्स! यह मृत्यु है क्या, इसे जान लेने के बाद उससे कोई नहीं डरता।'

दस्र को गुरु के इस वचन पर कुछ विस्मय-सा हुआ। वह बीच ही में बोल पड़े—'गुरुदेव! मैं मृत्यु के उस स्वरूप को जानना चाहता हूँ, जिसे जान लेने के बाद उससे कोई नहीं डरता।'

दध्यङ् बोले—'वत्स! मृत्यु में केवल शरीर भर बदलता है, आत्मा तो अजर, अमर और अविनाशी है। उसे कोई मार नहीं सकता। जिस तरह पुराने वस्त्र को छोड़कर मनुष्य नया वस्त्र धारण करता है उसी तरह पुराने शरीर को छोड़कर आत्मा भी नया शरीर धारण करता है। जिस तरह अच्छा दाम या श्रम लगाने पर अच्छा वस्त्र और कम दाम या श्रम लगाने पर मामूली वस्त्र मिलता है उसी तरह अच्छे और बुरे कर्मों के अनुसार आत्मा को भी अच्छे और बुरे शरीर मिलते हैं।'

बड़े भाई नासत्य ने हाथ जोडकर कहा—'गुरुदेव! कुछ भी हो पर आपके इस शरीर से संसार का जितना कल्याण हो रहा है, उसे देखते हुए उसकी सब प्रकार से रक्षा करना ही हमारा परम धर्म है।'

दस्र बोले—'गुरुदेव! मुझे इन्द्र का बिल्कुल भय नहीं है, मैं उन्हे असफल कर दूँगा। आप निश्चिन्त रहें।'

नासत्य उत्सुकता से दस्र की ओर ताकने लगे। दस्र ने कहा—गुरुदेव! हम अलग किए गए अंगों को जोडकर जीवित कर देने की विद्या जानते हैं। इसलिए एक कौशल करते हैं, जिससे न आपकी मृत्यु होगी और न हमे ब्रह्मविद्या से वंचित रहना पड़ेगा।'

दध्यङ् ने कहा—'यह भला किस प्रकार सम्भव होगा?'

दस्र बोले—'गुरुदेव ! हम एक घोड़ा लाते हैं और पहले उसका शिर धड़ से उतार लेते हैं। फिर आपका शिर उतार कर उस प० रख देते है और उसका शिर आपके धड़ पर रख देते हैं। आप उसी घोड़ेवाले शिर द्वारा हमें ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। इस पर यदि इन्द्र आकर आपके घोड़े वाले शिर को काट देगा तो हम आप का शिर घोड़े पर से उतार कर आप को फिर जीवित कर देंगे और घोड़े के शिर से घोड़े को भी जीवित कर देंगे। न आप मरेंगे न घोड़ा मरेगा और न इन्द्र को ही ब्रह्महत्या का पाप लगेगा।'

नासत्य चुपचाप अपने छोटे भाई की बातों को सुनकर मन ही मन प्रसन्न हो रहा था। दध्यङ को यह प्रस्ताव स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही हुई।

× × ×

इस प्रकार दध्यङ ने घोड़े के शिर से ब्रह्मविद्या का सम्पूर्ण उपदेश सम्पन्न कर अश्विनीकुमारो को पूर्ण ब्रह्मज्ञानी बना दिया। अब उन्हे यज्ञ से वहिष्कृत करने की बात कोई नहीं उठा सकता था। इधर इन्द्र को अश्विनीकुमारो को दध्यङ द्वारा ब्रह्मविद्या प्राप्त करने का जब समाचार मिला तब वह क्रुद्ध होकर अपनी राजधानी से दौड़ पड़े। और पहुँचते ही विना कुछ पूछे क्रूर वज्र से उनके घोड़े वाले शिर को धड़ से काट कर अलग कर दिया। पर अश्विनीकुमारों ने अपनी सजीवनी विद्या द्वारा घोड़े के धड पर लगे हुए अपने गुरु के शिर को उतार कर उन्हे इन्द्र के सामने ही पुनः जीवित कर दिया और जमीन पर छटपटाते हुए घोड़े के शिर को उसके धड़ पर रखकर उसे भी जीवित कर दिया।

देवराज इन्द्र ने चकित भीत नेत्रों से देखा कि महर्षि दध्यङ सुप्रसन्न मुख से उनकी ओर ताक रहे हैं और घोड़ा हिनहिनाता हुआ अपने पैर से जमीन कुरेद रहा है। वह बहुत लज्जित होकर शिर नीचे किए हुए चुपचाप अपनी राजधानी की ओर वापस लौट गए। दोनों अश्विनीकुमारो की बहुत दिनों की मनःकामना पूरी हुई और महर्षि दध्यङ को

भी उनसे बहुत सन्तोष हुआ। दो-चार दिन गुरु के आश्रम में रहकर अश्विनीकुमार जब अन्तिम दीक्षा प्राप्त कर अपने घर वापस जाने की आज्ञा मांगने लगे तो दध्यङ ने सुप्रसन्न मन से उन्हें विदा करते हुए कहा—'कुमार! जाओ, तुम्हारे मार्ग मंगलमय हों। सदा सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, स्वाध्याय से कभी विमुख मत होना। जो कर्म निन्दारहित हैं, उन्हें ही करना, निन्दित कर्म कभी भूलकर भी न करना। बेटा! छल, छिद्र, ईर्ष्या, द्वेष से सदा आग की तरह बचते रहना—ये जलानेवाली वस्तुएँ हैं। परोपकार से सदा प्रीति बनाए रखना, इसके समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। यहाँ तक कि अपने शत्रुओं से भी भरसक मित्र का भाव रखना, यही इस विद्या को प्राप्त करने का सुफल है। इन्हें कभी धोखे में भी मत भूलना।'

नासत्य और दस्र महर्षि दध्यङ के इस उपदेशामृत को अवहित चित्त से पान कर उनके चरणों पर अन्तिम बार शिर झुका कर अपने आश्रम के पथ पर अग्रसर हो गए। उस समय उनके निर्मल मानस में सन्तोष और शान्ति की सुषमा छाई हुई थी। उनके निसर्ग प्रसन्न सुमन से वैर का कांटा निकल चुका था। अब उनकी बाहरी दृष्टि में चारों ओर हरी-भरी सृष्टि आनन्द समुद्र में निमज्जित हो रही थी और भीतरी दृष्टि में हृदय के किसी अज्ञात कोने में भी कालिमा की कोई क्षीण रेखा भी नहीं दिखाई पड़ रही थी*।

---

*तैत्तिरीय ब्राह्मण, बृहदारण्यक और पुराणों से—